तत्त्वज्ञान विवेचिका

भाग–1

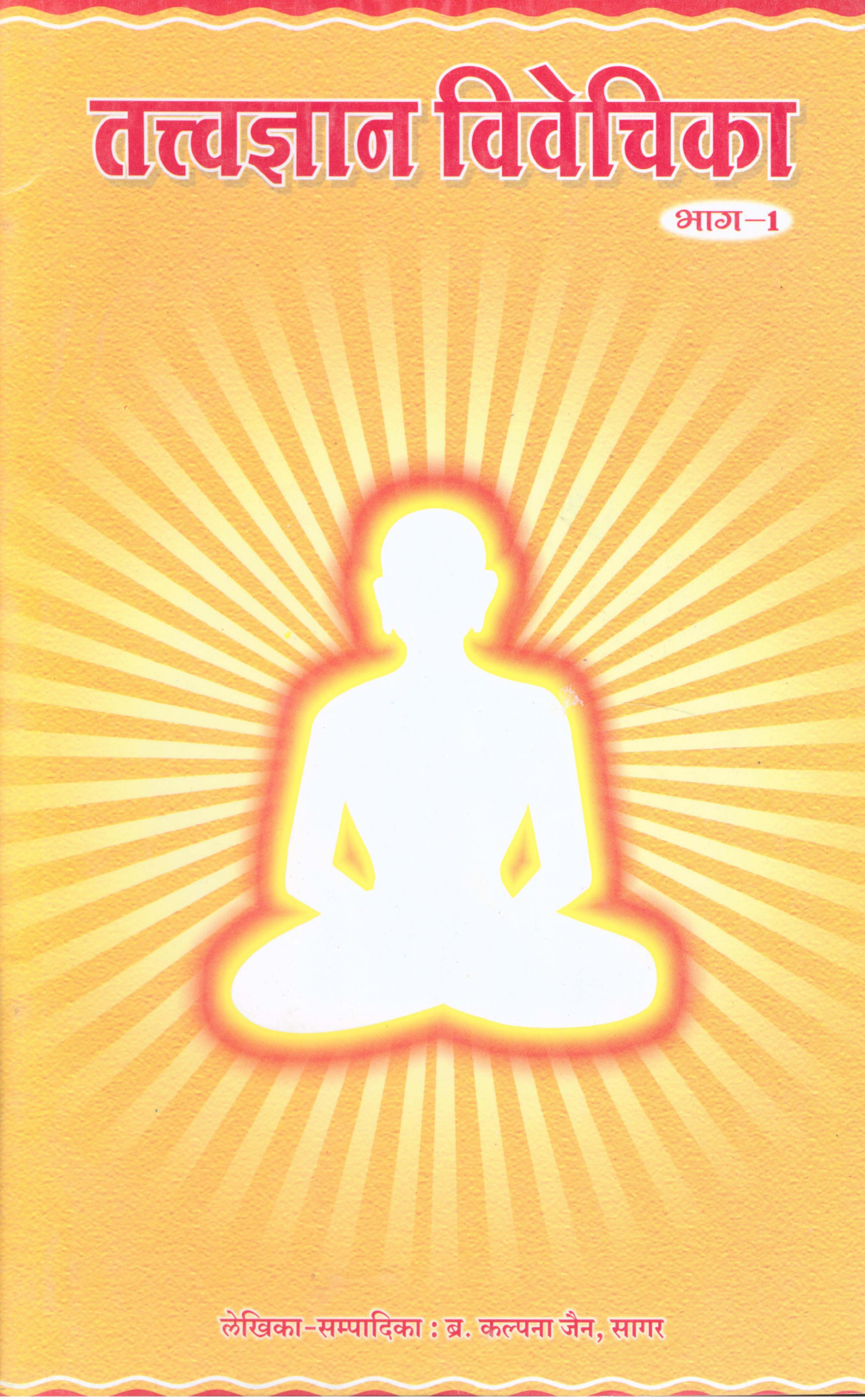

लेखिका-सम्पादिका : ब्र. कल्पना जैन, सागर

॥ सा विद्या या विमुक्तये ॥

तत्त्वज्ञान विवेचिका

भाग-१

लेखिका/सम्पादिका

ब्र. कल्पना जैन, सागर

एम.ए., शास्त्री

प्रकाशक

शांत्याशा प्रकाशन, अकलूज

प्रथम संस्करण : २००० प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण : ३००० प्रतियाँ
(वीर निर्वाण दिवस : १ नवम्बर २००५)

पुनर्प्रकाशन हेतु सहयोग राशि : **तेरह रुपये**

प्राप्ति स्थान :

- **श्री दिनेश जैन शास्त्री**
  देशना कम्प्यूटर्स, मंगलधाम, डी-१०३
  ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५ (राज.)
- **श्री शान्तिनाथ दि. जैन मन्दिर**
  चौक सर्राफा
  कानपुर-१ (उ.प्र.)
- **श्री वीतराग विज्ञान प्रभावना मंडल**
  १३३/७१, एम ब्लॉक, किदवई नगर,
  कानपुर-११ (उ.प्र.)
- **श्री सोनाज ॲण्ड कम्पनी**
  हिन्दुस्तान पेट्रोलियम, इंदापुर रोड, अकलूज
  जि. सोलापूर (महा.) ४१३०१
- **मात्र आकर ले जाने के लिए**
  बा.ब्र. कल्पना जैन, सागर
  द्वारा, श्री टोडरमल स्मारक भवन
  मंगलधाम, फ्लैट नं. डी-१०७
  ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

मुद्रण व्यवस्था :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर
मोबा. 9314640048

मनोगत

अनंतधर्मात्मक वस्तु की अनेकांतात्मक व्यवस्था को स्याद्वाद शैली द्वारा प्ररूपित करनेवाली चार अनुयोगमयी जिनवाणी के सुव्यवस्थित पाठ्यक्रम के अंतर्गत बालबोध गाइड और वीतराग-विज्ञान विवेचिका के बाद तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ का विवेचन करनेवाली 'तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग १' आपके समक्ष प्रस्तुत है।

यद्यपि पूर्ण सावधानी पूर्वक जिनवाणी का आलोडन कर ही यह विवेचन करने का प्रयास किया गया है; तथापि इसमें तात्त्विक, सैद्धान्तिक, न्यायपरक विषयों का समायोजन होने से मुझ अल्पबुद्धि द्वारा स्खलित होने की संभावना से भी सर्वथा इंकार नहीं किया जा सकता है; अतः जिनवाणी परम्परा के संरक्षक, संपोषक, संवर्धक सम्माननीय विद्वद्वृंद और परम पूज्य साधु-समूह से परोक्ष प्रार्थना है कि आगम परम्परा-संरक्षक अपनी मनोवृत्ति की उदारता के उपयोग द्वारा मुझे मार्गदर्शन देकर अनुगृहीत करेंगे।

जिनवाणी का क्रमिक अध्ययन करनेवाले इससे लाभान्वित हो अपने तत्त्वज्ञान को निर्मल कर, मोक्षमार्ग प्रशस्त करेंगे – इस पवित्र भावना के साथ प्रस्तुत विवेचिका आपके कर-कमलों में सादर समर्पित है। – **कल्पना जैन** एम.ए. शास्त्री

श्री ऋषभ जयंति (१५ मार्च २००४)

विषयानुक्रमणिका

विषय		पृष्ठांक
मनोगत		
पाठ १	सीमंधर पूजन	१
'' २	सात तत्त्वों संबंधी भूलें	१५
'' ३	लक्षण और लक्षणाभास	३६
'' ४	पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ	४८
'' ५	सुख क्या है ?	७९
'' ६	पंचभाव	८७
'' ७	चार अभाव	११०
'' ८	पाँच पाण्डव	१२५
'' ९	भावना बत्तीसी	१३५

पृष्ठपूर्ति के लिए प्रयुक्त उद्धरण

इंद्रियजनित सुख.....१४
पुण्य-पाप का.....३५
समयसार गाथा २३-२५.....४७
चौदह गुणथानक दशा.....७८
जिन जीवों को दुःख.....८६
नियमसार कलश ५८.....१०९
नहि स्वतोऽसति.....१२४

प्रस्तुत संस्करण में आर्थिक सहयोग प्रदान करनेवाले दातारों की सूची

१४५१/- रुपये प्रदान करनेवाले - ●श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल कोहेफिजा।

१००१/- रुपये प्रदान करनेवाले - ●सौ. कनुप्रिया नितिनकुमारजी जैन डोंबिवली (पूर्व) ●सौ. सरोज जैन करहल ●श्रीमती मालती वीरेन्द्र जैन हस्ते सौ. हीराबाई जसवन्तनगर।

६०१/- रुपये प्रदान करनेवाले - ●श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल भोपाल।

५०१/- रुपये प्रदान करनेवाले - ●कु. रजनी जैन, श्योपुर कलां (म.प्र.)।

२५१/- रुपये प्रदान करनेवाले - ●भोपाल से - श्रीमती चन्द्रा उमेशचन्द, श्री रतनलालजी सौगानी, श्री देवेन्द्रकुमारजी बड़कुल, श्री राजकुमारजी इलाहाबाद बैंक, श्रीमती सरोज ग्रीन पार्क, श्री अजितकुमारजी ग्रीनपार्क ●श्रीमती शैलादेवी गुना।

२०१/- रुपये प्रदान करनेवाले - ●भोपाल से - श्रीमती मुन्नीबाई धन्यकुमारजी वकील, श्री अजयकुमारजी सौगानी, श्री सुभाषचन्द्र सुबोधकुमार चौधरी, श्री संजीवकुमार उमेशचन्द, श्री सुरेशचन्द्रजी 'मन्जू', श्रीमती सरोज विजयकुमार, श्री राजीवकुमार उमेशचन्दजी, श्रीमती शकुन्तला ●श्रीमती प्रेमवती श्रीचन्द्र जैन दिल्ली।

१५१/- रुपये प्रदान करनेवाले - ●श्री पं. राजमलजी अधिष्ठाता (उदासीन आश्रम) भोपाल ●श्रीमती शान्ती शेखावत इन्दौर।

१०१/- रुपये प्रदान करनेवाले - ●भोपाल से - श्री कोमलचन्द्रजी (मार्डन), श्री हुकमचन्दजी, श्री पं. कस्तूरचन्दजी बजाज, श्री अरुणकुमार 'वर्धमान', श्री राजकुमारजी घोड़ा नक्कास, श्री अजितकुमारजी बजाज, श्री सतीशकुमारजी मेहता, श्री राजमलजी पवैया, श्री सुरेन्द्रकुमारजी सौगानी, श्रीमती चन्दना दिवाकर, श्रीमती निर्मला टडैया, श्रीमती स्नेहलता बड़कुल, श्रीमती सन्ध्या सुनीलकुमारजी, श्रीमती उर्मिला, श्रीमती प्रेम बुआजी, श्रीमती सुशीला बाई, श्री अभिषेक जैन, श्रीमती सरोज सन्तोषकुमारजी जैन ●श्री विकास जैन बानपुर (म.प्र.) ●सौ. सन्ध्या डॉ. नेमीचन्दजी जैन महावीरजी।

५१/- रुपये प्रदान करनेवाले - ●भोपाल से - श्री राधेलालजी, श्री राजमलजी लीडर, श्री मुल्तानचन्द्रजी, श्रीमती विमला जैन, श्रीमती मीणा सोमबारा, श्रीमती मणि जैन।

कुल =११७५०/-

दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर पर उपलब्ध साहित्य

१. प्रवचनसार, पंचास्तिकायसंग्रह पद्यानुवाद	५/-
२. मोहक्षय का रामवाण उपाय (प्रवचनसार की ८०वीं गाथा पर प्रवचन)	६/-
३. बालबोध गाइड	१०/-
४. बालबोध मार्गदर्शिका (मराठी)	१०/-
५. तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग-१	१३/-
६. तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग-१ (मराठी)	१३/-
७. वीतराग-विज्ञान विवेचिका	१५/-
८. गोम्मटसार कर्मकाण्ड विवेचिका भाग-१	१५/-
९. वीतराग-विज्ञान मार्गदर्शिका (मराठी)	२०/-
१०. तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग-२	२०/-
१२. वर्तमान में जैन श्रावकाचार : एक संक्षिप्त विवरण	४/-
११. सामायिक संग्रह	स्वाध्याय

पाठ 1

सीमंधर पूजन

प्रश्न 1: श्री सीमंधर भगवान के संबंध में आप क्या जानते हैं ?

उत्तरः अनंतानंत प्रदेशी आकाश के मध्य स्थित असंख्यात प्रदेशी तीन लोक के ठीक बीचोंबीच त्रसनाड़ी संबंधी मध्यलोक के ढाई द्वीप में सुदर्शन, विजय, अचल, मंदर और विद्युन्माली नामक पाँच मेरु पर्वत हैं। इन पाँचों मेरु संबंधी पूर्व, पश्चिम विस्तृत कर्मभूमिओं का क्षेत्र महाविदेह कहलाता है। इन पाँच महाविदेह क्षेत्रों में सतत दुखमा-सुखमा काल की व्यवस्था विद्यमान होने के कारण यहाँ से अनेकों जीव सतत मोक्षदशा प्राप्त करते रहते हैं। यहाँ प्रत्येक महाविदेह संबंधी चार – इसप्रकार पाँच महाविदेह संबंधी कम से कम बीस तीर्थंकर सतत विद्यमान रहते हैं। ये एक साथ अधिक से अधिक एक सौ साठ भी हो सकते हैं।

इस जंबूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तरवर्ती अन्तिम आठवें पुष्कलावती विदेह में श्री सीमंधर नामक शाश्वत तीर्थंकर विद्यमान हैं। यहाँ इस नामवाले पूर्व तीर्थंकर का निर्वाण हो जाने पर पुनः इसी नामवाले दूसरे तीर्थंकर समवसरण सहित विहार करने लगते हैं; अर्थात् जंबूद्वीप का प्रस्तुत विदेह क्षेत्र इन श्री सीमंधर भगवान के विहार से कभी भी वंचित नहीं रहता है।

प्राप्त प्रमाणों के आधार से यह सर्व विदित है कि वर्तमान में वहाँ विद्यमान श्री सीमंधर भगवान के दर्शन का लाभ इस भरत क्षेत्र के अध्यात्म-प्रतिष्ठापक, द्वितीय श्रुतस्कंध के प्रणेता दिग्गज आचार्य श्री कुंदकुंददेव को मिला था। वे दक्षिण भारत में स्थित पौन्नूर हिल से पूर्व विदेह क्षेत्र में स्थित श्री सीमंधर भगवान के दर्शन करने गए थे। वहाँ उन्होंने निराहार रहकर सात दिन पर्यंत भगवान की दिव्यध्वनि का भरपूर लाभ लिया था। दिव्यध्वनि काल के अतिरिक्त काल में, वहाँ उपस्थित

गणधर आदि से भी शंका-समाधान कर उन्होंने अपने ज्ञान को अत्याधक निमल किया था।

वहाँ से यहाँ वापिस आकर आपने उस दिव्यज्ञान के माध्यम से सनातन सत्य वस्तुधर्म/जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में, जिनवाणी माँ का कोश समृद्ध करने में अभूतपूर्व योगदान दिया था। इसी आधार पर तत्कालीन गृहस्थ श्रावकों ने 'जीवंत तीर्थनाथ' के रूप में श्री सीमंधर भगवान की प्रतिमा भी प्रतिष्ठित कराई थी। इसप्रकार भारतवासी आचार्य श्री कुंदकुंददेव के कारण श्री सीमंधर भगवान से जुड़ गए हैं।

वैसे तो यहाँ इस पंचमकाल में साक्षात् तीर्थंकरों का विरह होने के कारण प्रारम्भ से ही विदेह क्षेत्रस्थ विद्यमान विहरमान बीस तीर्थंकर उपास्य रहे हैं। भक्तगण स्तुतिओं, स्तोत्रों, पूजनों, विधानों, प्राण-प्रतिष्ठाओं आदि के माध्यम से उनके प्रति अपने भक्तिभाव व्यक्त करते रहे हैं; परन्तु अभी इस अर्ध सदी में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा मुख्य रूप से समयसार को आधार बनाकर जो आध्यात्मिक जिनवाणी गंगा की अविरल धारा प्रवाहित हुई है; इसके कारण श्री सीमंधर भगवान के साक्षात् दर्शन से महिमामंडित, समयसार आदि परमागमों के प्रणेता आचार्य श्री कुंदकुंददेव के प्रति विशिष्ट श्रद्धावनत भक्तगणों ने मात्र श्री सीमंधर स्वामी की प्राण-प्रतिष्ठा भी प्रारम्भ की है। तदनुसार गुणानुरागी भक्त हृदय कविओं ने स्तुतिआँ, स्तोत्र, पूजन आदि के माध्यम से उनके प्रति अपने भक्तिभाव भी समर्पित किए हैं। उसी धारा में भक्त-हृदय 'डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल जयपुर' ने भी प्रस्तुत पूजन के माध्यम से अपना भक्ति-भाव व्यक्त किया है।

प्रश्न 2: श्री सीमंधर भगवान की पूजन का अर्थ लिखिए।

उत्तरः 'डॉ हुकमचन्द भारिल्ल' द्वारा रचित प्रस्तुत 'श्री सीमंधर-पूजन' भाषा, भाव, साहित्य तथा अध्यात्म की दृष्टि से एक अद्वितीय रचना है। इसमें पूजन सामग्री के कल्पित गुणों को वास्तविक रूप से भगवान में देखकर, उनके प्रति आकर्षित हो, उनके प्रतीक रूप में यह सामग्री भगवान के चरणों में समर्पित करने की भावना भाता हुआ भक्त सम्यग्दर्शन की प्रगटता से लेकर मोक्ष-प्राप्ति पर्यंत का उपाय भगवान से सीखकर स्वयं भगवान वन जाने का संकल्प व्यक्त करता हुआ, समयसारमय सीमंधर भगवान की अपरंपरा महिमा से अभिभूत हो अपनी वाणी को विराम देता है।

पूजन के प्रत्येक छंद का अर्थ क्रमशः इसप्रकार है –

स्थापना – **भव-समुद्र सीमित कियो, सीमंधर भगवान।**
कर सीमित निजज्ञान को, प्रगट्यो पूरण ज्ञान।।
प्रगट्यो पूरण ज्ञान-वीर्य-दर्शन-सुखधारी,
समयसार अविकार विमल चैतन्य विहारी।
अंतर्बल से किया प्रबल रिपु-मोह पराभव,
अरे भवान्तक ! करो अभय हर लो मेरा भव।।

हे सीमंधर भगवान ! आपने अपने सार्थक नाम के अनुसार इस संसार-समुद्र को सीमित कर दिया है अर्थात् आपका यह अंतिम भव है; इस भव की समाप्ति पर आप सदा-सदा के लिए संसार से छूटकर मोक्षपद प्राप्त कर लेंगे। आपने अपने ज्ञान को सीमित कर/संपूर्ण परपदार्थों से हटाकर अपने ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा में लगाकर परिपूर्ण ज्ञान/क्षायिक ज्ञान/केवलज्ञान प्रगट किया है। इस परिपूर्ण अनंतज्ञान के साथ ही आपमें अनंतदर्शन, अनंतवीर्य और अनंतसुख भी प्रगट हो गए हैं – इसप्रकार आप अनंत चतुष्टय सम्पन्न हैं। आपने अंतर्बल से/आत्मस्वरूप में परिपूर्ण लीनतामय अन्तरोन्मुखी अनंत पुरुषार्थ से समस्त जगत के महाबलशाली मोहरूपी शत्रु को जीतकर निर्विकार, निर्मल समयसार स्वरूप शुद्ध दशा प्रगट कर ली है। आप अपने चैतन्य स्वभाव में निरंतर विहार कर रहे हैं। इसप्रकार आपने अपने संसार को पूर्णतया नष्ट कर दिया है। हे संसार को नष्ट करनेवाले या संसार को नष्ट करने के लिए अंतक/यमराज के समान सीमंधर स्वामी ! मुझे भी इस संसार के भय से निर्भय कर दो, मेरा संसार भी हर लो/ नष्ट कर दो।

तात्पर्य यह है कि आपके द्वारा बताए गए मार्ग को जानकर, पहिचानकर, मैं भी आपके समान अपने शुद्धात्मा में सतत लीन रहूँ; जिससे मेरा भी संसार नष्ट होकर मैं भी आपके समान वीतरागी-सर्वज्ञ हो जाऊँ – इस रूप में भक्त अपने मन-मंदिर में सीमंधर भगवान की स्थापना कर रहा है।

जल – **प्रभुवर तुम जल से शीतल हो, जल से निर्मल अविकारी हो।**
मिथ्यामल धोने को जिनवर, तुम ही तो मल परिहारी हो।।
तुम सम्यग्ज्ञान जलोदधि हो, जलधर अमृत बरसाते हो।
भविजन मन मीन प्राणदायक, भविजन मन-जलज खिलते हो।।

हे ज्ञानपयोनिधि सीमंधर ! यह ज्ञानप्रतीक समर्पित है।
हो शान्त ज्ञेयनिष्ठा मेरी, जल से चरणाम्बुज चर्चित है।।

इस छंद में जल संबंधी समस्त विशेषताओं को भगवान पर घटित करके, ज्ञान के प्रतीकरूप में जल को समर्पित कर, उसके माध्यम से अपनी ज्ञेयनिष्ठा को शांत करने की भावना भाई गई है। पूजक कहता है कि हे भगवन ! आप जल के समान शीतल हैं, जल के समान ही अत्यंत स्वच्छ निर्मल समस्त विकारों से रहित अविकारी हैं। यद्यपि मल को धो डालने में समर्थ होने से जल का एक नाम मल-परिहारी है; तथापि वास्तव में तो मिथ्यात्वरूपी मल को धोने में समर्थ होने के कारण आप ही मल-परिहारी हैं। हे भगवन ! आप सम्यग्ज्ञानरूपी जल के सागर/भंडार हैं, प्राणी मात्र के जीवन को अमर बनाने में निमित्तभूत दिव्यध्वनि रूपी अमृत की वर्षा करने के लिए जलधर/मेघ के समान हैं। आप भव्य जीवों के मनरूपी मछलिओं को प्राण-दान देनेवाले पवित्र जल हैं तथा भव्य जीवों के मनरूपी जलज/कमल को विकसित करने के लिए उर्वरक जल हैं।

हे ज्ञान के भण्डार, ज्ञान सागर सीमंधर स्वामी ! आपके चरण कमलों की पूजा करने के लिए मैं यह ज्ञान का प्रतीकरूप जल समर्पित कर रहा हूँ। जैसे जल प्राणिओं की प्यास को शांत करता है; उसीप्रकार हे भगवान ! इस ज्ञानरूपी जल से मेरी ज्ञेयनिष्ठा/पदार्थों को जानने संबंधी प्यास/आकुलता शांत हो जाए। मैं भी आपके ही समान पर से पूर्ण निरपेक्ष रह अपने ज्ञान-स्वभाव में ही लीन रहूँ – इस भावना को पुष्ट करने के लिए ही ज्ञानरूपी जल से आपकी पूजन कर रहा हूँ।

चंदन **– चंदन-सम चन्द्रवदन जिनवर, तुम चन्द्रकिरण से सुखकर हो।**
भव-ताप निकंदन हे प्रभुवर ! सचमुच तुम ही भव-दुख-हर हो।।
जल रहा हमारा अन्तःतल, प्रभु इच्छाओं की ज्वाला से।
यह शान्त न होगा हे जिनवर रे ! विषयों की मधुशाला से।।
चिर-अंतर्दाह मिटाने को, तुम ही मलयागिरि चंदन हो।
चंदन से चरचूँ चरणांबुज, भव-तप-हर ! शत-शत वंदन हो।।

हे भगवान ! आपका चंद्रमा के समान पवित्र मुख या शरीर चंदन के समान शीतल है, चंद्रमा की किरणों के समान सुख देनेवाला है। संसार के ताप को नष्ट करनेवाले हे भगवन ! वास्तव में आप ही संसार के दुःख को नष्ट करनेवाले हैं। हे

भगवन ! मेरा मन अनादि से ही इच्छाओं रूपी अग्नि की ज्वालाओं से जल रहा है। वह पंचेन्द्रिय विषय-भोगों की विविध सामग्रिओं से शांत होनेवाला नहीं है। इस अनादिकालीन अंतरंग जलन को शांत करने के लिए हे प्रभो ! आप ही मलयागिरि चंदन के समान हैं अर्थात् आपकी वाणी के मुख्य केन्द्र विंदु अपने शुद्धात्मा में स्थिरता ही एक मात्र इस अंतर्दाह को मिटाने में सक्षम है; अतः संसार के ताप को नष्ट करनेवाले हे भगवान ! मैं आपके चरणारविन्दों की चंदन से पूजन कर रहा हूँ; आपको मेरा शत-शत वंदन है।

इसप्रकार इस छंद द्वारा लोक-मान्य शीतलता-प्रदायी चंदन और चंद्रमा के साथ भगवान की तुलना कर भगवत स्वरूप शुद्धात्मा को ही वास्तविक शीतलस्वभावी सिद्धकर, उसमें स्थिरता के प्रतीक रूप में चंदन से भगवान की उपासना की गई है।

अक्षत – प्रभु ! अक्षतपुर के वासी हो, मैं भी तेरा विश्वासी हूँ।
क्षत-विक्षत में विश्वास नहीं, तेरे पद का प्रत्याशी हूँ।।
अक्षत का अक्षत-संबल ले, अक्षत-साम्राज्य लिया तुमने।
अक्षत-विज्ञान दिया जग को, अक्षत-ब्रम्हाण्ड किया तुमने।।
मैं केवल अक्षत-अभिलाषी, अक्षत अतएव चरण लाया।
निर्वाण-शिला के संगम-सा, धवलाक्षत मेरे मन भाया।।

हे भगवन ! वास्तव में आप ही अक्षतपुर/कभी भी नष्ट नहीं होनेवाले मोक्षनगर के निवासी हैं। मेरा भी यह विश्वास है/मेरी भी यह मान्यता है कि अपने स्थाई स्थान में स्थाई निवास ही सुखमय है। इन क्षत-विक्षत/सदैव नष्ट होनेवाले/क्षणभंगुर पदों में अब मेरा विश्वास नहीं रह गया है अर्थात् राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, चक्रवर्ती, इंद्र, अहमिंद्र आदि क्षणिक पदों के प्रति मेरे मन में तनिक भी आकर्षण नहीं है। मैं तो मात्र आपके ही स्थाई सिद्ध पद का प्रत्याशी/उम्मीदवार बनकर आया हूँ। आपने अनादि-अनंत ध्रुव अक्षत आत्मा में अक्षत संबल से/परिपूर्ण स्थिरता से अक्षत साम्राज्य/अविनाशी (भाव) मोक्षपद प्राप्त किया है। इस अविनाशी साम्राज्य को प्राप्तकर आपने जगत-जन को अक्षत विज्ञान/अनादि अनंत वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान दिया है तथा अपने ब्रम्हाण्ड को भी अक्षत कर लिया है/अपनी समस्त पर्यायों को परिपूर्ण शुद्ध स्वाभाविक निर्मलता सम्पन्न कर लिया है। मुझे भी मात्र इसी अक्षत पद की चाह/इच्छा है; अतः अक्षत लेकर आपके चरणों में आ गया हूँ। निर्वाण

शिला/स्फटिक मणिमय अत्यंत धवल सिद्ध शिला के संगम के समान/सिद्ध रूप में स्थाई निवास के अवसर के समान यह धवल अक्षत मेरे मन को अति रुचिकर हो गया है।

इसप्रकार इस छंद द्वारा अक्षत/चावल के माध्यम से अक्षय शुद्धात्मा की अक्षय अखण्ड उपासना से प्राप्त अक्षत साम्राज्य/सिद्ध पद की भावना भाते हुए सीमंधर भगवान की उपासना की गई है।

पुष्प – **तुम सुरभित ज्ञान-सुमन हो प्रभु, नहिं राग-द्वेष दुर्गन्ध कहीं।**
सर्वांग सुकोमल चिन्मय तन, जग से कुछ भी संबंध नहीं।।
निज अंतर्वास सुवासित हो, शून्यान्तर पर की माया से।
चैतन्य-विपिन के चितरंजन, हो दूर जगत की छाया से।।
सुमनों से मन को राह मिली, प्रभु कल्पबेलि से यह लाया।
इनको पा चहक उठा मन-खग, भर चोंच चरण में ले आया।।

लौकिक दृष्टि से वनस्पतिकायिक पुष्प में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं –

1. वह परिपूर्ण सुगंधित है, किसी भी रूप में दुर्गन्ध रंचमात्र नहीं है।

2. अत्यन्त कोमल होने से उस पर किसी अन्य का प्रभाव नहीं पड़ता है।

3. स्वयं स्वतः अंतरंग से सुगंधित होने के कारण उसकी सुगंध डाली पर लगे रहने तक कभी भी नष्ट नहीं होती है।

4. वास्तव में उसकी सुगंध स्वयं उसके लिए ही होती है; किसी ने उसका उपयोग किया कि नहीं, इससे उसका कुछ भी संबंध नहीं है।

5. अनेक-अनेक विपरीत परिस्थितिओं/काँटों आदि के मध्य रहते हुए भी वह सतत विकसित रहता है। उन समस्त परिस्थितिओं से पूर्ण अप्रभावित रहता हुआ स्वयं में मस्त रहता है।

इत्यादि अनेकों विशेषताएँ लौकिक पुष्प में पाई जाती हैं।

प्रस्तुत छंद में पुष्प की इन क्षणिक विशेषताओं को वास्तविक रूप में भगवान पर घटित किया गया है। वह इसप्रकार –

हे भगवन ! आप स्वयं अत्यन्त सुगंधित ज्ञानरूपी पुष्प हैं, आपमें राग-द्वेष आदि विकारी भावों की दुर्गंध किसी भी रूप में रंचमात्र नहीं है। आप अपने

ज्ञान-दर्शनमय चैतन्य शरीर से सर्वांग सुकोमल हैं। जगत में रहते हुए भी वास्तव में आपका जगत से कुछ भी संबंध नहीं रहा है। आपने जो अंतर्वास/सुख-शान्ति प्रगट की है वह स्वयं से स्वयं के लिए ही प्रगट की है, उसे प्रगट करने में आपको अन्य की रंचमात्र आवश्यकता नहीं पड़ी है। वह प्रगट सुख-शांति भी स्वयं आपके चैतन्यरूपी विशालवन में मात्र आपके ही जीवन को सुखद/आनंदित करने के लिए व्यक्त हुई है; उसे अन्य से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। अनंतानंत विविध ज्ञेय आपमें प्रतिबिम्बित होते हुए भी आप उनसे पूर्णतया अप्रभावित रहते हुए अपने आनंद में संतुष्ट हैं। हे भगवन ! आपके इस ज्ञानरूपी पुष्प को देखकर मेरे मन को भी एक राह/सभी प्रसंगों में आनंदमय जीवन जीने की कला प्राप्त हो गई है; जिससे मेरा मनरूपी पक्षी अत्यन्त प्रसन्न होकर आपकी उपासना करने के लिए अपने भावों रूपी चोंच में, आपके प्रति भक्ति भावरूपी पुष्पों को लेकर आपके चरणों में आ गया है।

नैवेद्य – **आनंद-रसामृत के द्रह हो, नीरस जड़ता का दान नहीं।**
तुम मुक्त-क्षुधा के वेदन से, षट्रस का नाम-निशान नहीं।।
विध-विध व्यंजन के विग्रह से, प्रभु भूख न शांत हुई मेरी।
आनंद-सुधारस-निर्झर तुम, अतएव शरण ली प्रभु तेरी।।
चिर-तृप्ति-प्रदायी व्यंजन से, हों दूर क्षुधा के अंजन ये।
क्षुत्पीड़ा कैसे रह लेगी ? जब पाये नाथ निरंजन ये।।

हे प्रभो ! आप अतीन्द्रिय आनंद रसरूपी अमृत के सरोवर हैं; इसलिए आप कभी भी रस रहित/नीरस, जड़/अचेतन पदार्थों का दान नहीं देते हैं; अर्थात् आपने यह कभी भी नहीं बताया है कि इन जड़ पदार्थों के आश्रय से भी जीवन आनंदमय हो सकता है। आपने सदा यही वताया है कि अपना ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनंदमय होने से स्वयं में स्थिरता ही आनंदमय दशा है। आप भूख की पीड़ा से पूर्णतया रहित हैं; अतः खट्टे-मीठे आदि छह रसों का आपके जीवन में नामनिशान भी नहीं है/आप यह जड़ भोजन कभी भी नहीं करते हैं। हे भगवन ! अनेक-अनेक व्यंजनों/पक्वान्नों के समूह के आश्रय से मेरी भूख आज तक भी शांत नहीं हो सकी है और आप तो आनंदरूपी अमृत के महान झरने हैं; अतः मैंने अव आपकी शरण ले ली है। सदा संतुष्टि देनेवाले आत्मारूपी व्यंजन को प्राप्त

कर लेने पर अब यह भूख की बाधा कैसे रह सकती है? जब मैंने आप जैसे निरंजन/निर्दोष परमात्मा को पा लिया है/अपने शुद्धात्मा को पहिचान लिया है, तब यह भूख की कालिमा अब कैसे रह सकती है? अब नियम से यह नष्ट होगी ही होगी। अब मुझे इन जड़ व्यंजनों की आवश्यकता नहीं रहेगी; अतः उन्हें आपकी पूजन के बहाने आपकी साक्षी में छोड़ने का संकल्प लेने आया हूँ।

दीप **– चिन्मय-विज्ञान-भवन अधिपति, तुम लोकालोक-प्रकाशक हो।**
कैवल्य किरण से ज्योतित प्रभु ! तुम महा-मोह-तम नाशक हो।।
तुम हो प्रकाश के पुंज नाथ ! आवरणों की परछाँह नहीं।
प्रतिबिंबित पूरी ज्ञेयावलि, पर चिन्मयता को आँच नहीं।।
ले आया दीपक चरणों में, रे ! अन्तर आलोकित कर दो।
प्रभु तेरे मेरे अन्तर को, अविलंब निरन्तर से भर दो।।

हे भगवन ! आप अनंतज्ञान, अनंतदर्शन रूप चैतन्यमय विज्ञान भवन के अधिपति/स्वामी हैं/आप अनंत चतुष्टय सम्पन्न हैं। आपके ज्ञान में सम्पूर्ण लोकालोक प्रकाशित हो रहा है/झलक रहा है। आपका सम्पूर्ण भवन केवलज्ञान रूपी महादीप की प्रकाश-किरणों से प्रकाशित है। आप अनादिकालीन महा मोह रूपी अधंकार को नष्ट करनेवाले हैं। हे प्रभो ! आपका अद्भुत ज्ञानमय जीवन मानो प्रकाश का ही पुंज है; इस पर ज्ञानावरण आदि आवरणों की परछाईं भी नहीं है/आप द्रव्य-भाव घाति कर्मों से पूर्णतया रहित हैं। यद्यपि आपके इस ज्ञान में सम्पूर्ण ज्ञेयावलि/तीनकाल-तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं; तथापि आपकी चैतन्यमयता उनसे रंचमात्र प्रभावित नहीं है/सभी पदार्थों को सहज भाव से जानते हुए भी आप उनसे पूर्णतया निरपेक्ष हैं, पूर्ण वीतरागी हैं। हे भगवन ! मैं आपके चरणों में यह अपना ज्ञानरूपी दीपक लेकर आया हूँ। आप इससे मेरे अंतर् आत्मा को प्रकाशित कर दें/आप मुझे वह पथ बताएं कि जिसे अपनाकर मैं अपने श्रुतज्ञानरूपी दीपक से स्वयं को प्रकाशित कर, उसमें ही स्थिर रह सकूँ; मोहांधकार का नाशकर, आप जैसा बन सकूँ। हे प्रभो ! इस ज्ञानरूपी दीपक से आप आपके और मेरे बीच के अंतर को शीघ्र नष्ट कर दें/आपके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर/अपने आत्मा में पूर्ण स्थिर हो आपके ही समान मैं भी वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान बन जाऊँ।

धूप – **धू-धू जलता दुख की ज्वाला, प्रभु त्रस्त निखिल जगतीतल है।**
बेचेत पड़े सब देही हैं, चलता फिर राग प्रभंजन है।।
यह धूम धूमरी खा-खाकर, उड़ रहा गगन की गलियों में।
अज्ञान-तमावृत चेतन ज्यों, चौरासी की रंग-रलियों में।।
संदेश धूप का तात्त्विक प्रभु, तुम हुए ऊर्ध्वगामी जग से।
प्रगटे दशांग प्रभुवर तुमको, अन्तःदशांग की सौरभ से।।

हे प्रभो ! इस सम्पूर्ण जगतीतल/विश्व में रहनेवाले समस्त संसारी प्राणिओं के अंदर दुःखों की ज्वाला धू-धू करके निरंतर जल रही है; जिससे यह संसारी प्राणी अत्यधिक त्रस्त है/आकुलित/दुःखी है। इस असह्य दुःख के कारण वह अपनी सुध-बुध खोकर बेहोश पड़ा हुआ है। उसे वस्तु-स्वरूप/अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं है। इसे बेसुध अवस्था में ही प्रलयंकारी राग तीव्रवेग से बढ़ रहा है/यह जीव अपने संबंध में अज्ञानता के कारण पंचेन्द्रिय विषय-भोगों की तीव्र लालसा में उलझता रहता है और इसके कारण वह चार गति चौरासी लाख योनिओं में भटक-भटककर अनंत दुःख पाता हुआ उसीप्रकार यहाँ से वहाँ चक्कर लगा रहा है, जिसप्रकार आकाश में धुँआ यहाँ से वहाँ उड़ता रहता है। यह धूप का धुआँ ऊपर की ओर उड़ रहा है। हे भगवन ! धूप के इस तात्त्विक संदेश को समझकर आप भी जगत से ऊर्ध्वगामी हो गए हैं/जगत में रहते हुए भी आप जगत से पूर्ण विरक्त हो स्वयं में स्थिर होकर, पर से पूर्ण निरपेक्ष वीतरागी हो गए हैं। अपने त्रिकाली ध्रुव तत्त्व की सुगंधी के आश्रय से आपमें दशांगी धूप के समान धर्म के उत्तम क्षमा आदि दश अंग व्यक्त हो गए हैं/आप पूर्णतया सम्यक् रत्नत्रय सम्पन्न अनन्त चतुष्टयमय वीतरागी-सर्वज्ञ हो गए हैं।

फल – **शुभ-अशुभ वृत्ति एकांत दुःख अत्यंत मलिन संयोगी है।**
अज्ञान विधाता है इनका, निश्चित चैतन्य विरोधी है।।
काँटों सी पैदा हो जाती, चैतन्य-सदन के आँगन में।
चंचल छाया की माया-सी, घटती क्षण में बढ़ती क्षण में।।
तेरी फल-पूजा का फल प्रभु ! हों शांत शुभाशुभ ज्वालायें।
मधुकल्प फलों-सी जीवन में, प्रभु ! शान्ति-लतायें छा जायें।।

हे प्रभो ! शुभ-अशुभ/मंद कषाय-तीव्र कषाय रूप समस्त ही पराधीन परिणाम

एकांत दुःखरूप/पूर्णतया दुःखमय ही हैं; उनमें सुख रंचमात्र भी नहीं है। ये परिणाम अत्यंत मलिन/अशुद्ध/विकृत हैं तथा कर्म के उदय में, अन्य के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले संयोगी भाव हैं। ये वास्तव में अपने ज्ञानानंद आदि अनंत वैभव सम्पन्न स्वभाव को अपनत्वरूप से नहीं जानने के कारण उत्पन्न होते हैं तथा अपने स्वभाव के विरोधी भाव हैं/चैतन्य स्वभाव की गरिमा को नष्ट करनेवाले परिणाम हैं। ये अपने चैतन्यरूपी घर के आँगन में/एक-एक समयवर्ती क्षणिक पर्याय में काँटों के समान दुःखदायी रूप में पैदा होते रहते हैं। कर्मोदय जन्य होने से ये छाया के समान कभी भी एक रूप नहीं रहते हैं/सतत स्वभाव से ही हीनाधिकतामय हैं। मैं इनसे अत्यधिक दुखी हूँ; अतः हे नाथ ! फल द्वारा आपकी पूजन करके, उसका फल मात्र इतना ही चाहता हूँ कि ये समस्त शुभाशुभ ज्वालाएं शांत हो जाएं/ये सभी कषायमय भाव पर्याय में से भी नष्ट हो जाएं तथा बसंत ऋतु में अमृतोपम फलों को उत्पन्न करनेवाली लताओं के समान मेरे अंदर भी शान्ति-लताएं उत्पन्न हो जाएं/मैं भी पूर्ण वीतरागी बन अतीन्द्रिय आनन्दमय अमर जीवन व्यक्त कर लूँ।

अर्घ्य **– निर्मल जल-सा प्रभु निजस्वरूप, पहिचान उसी में लीन हुए।**
भव-ताप उतरने लगा तभी, चंदन-सी उठी हिलोर हिये।।
अभिराम भवन प्रभु अक्षत का, सब शक्ति प्रसून लगे खिलने।
क्षुत् तृषा अठारह दोष क्षीण, कैवल्य प्रदीप लगा जलने।।
मिट चली चपलता योगों की, कर्मों के ईंधन ध्वस्त हुए।
फल हुआ प्रभो ! ऐसा मधुरिम, तुम धवल निरंजन स्वस्थ हुए।।

इस छंद में अष्ट द्रव्यमय अर्घ्य से भगवान की पूजन करने के बहाने सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्ध दशा पर्यंत समस्त शुद्ध दशाओं के व्यक्त होने की प्रक्रिया बताई गई है। वह इसप्रकार –

हे प्रभो ! आप निर्मल जल के समान परमपवित्र अपने ज्ञानानंद स्वभाव को अपनत्व रूप से पहिचानकर उसी में लीन हो गए/अपने स्वभाव के आश्रय से आपने सम्यग्दर्शन प्रगटकर, उसमें ही विशेष स्थिरता से मुनिदशा प्रगट कर ली; जिससे संसाररूपी ताप उतरने लगा/कषायें नष्ट होने लगीं और चंदन के समान शीतल लहरें हृदय में उत्पन्न हो गईं/क्षपक श्रेणी का आरोहण कर आप निष्कषाय वीतरागी परमशांत हो गए हैं। जिससे आपने अत्यंत सुन्दर, अविनाशी अनंत चतुष्टयमय

भवन प्राप्त कर लिया है। जिसमें समस्त शक्तिओं के पुष्प विकसित हो गए हैं/भूख-प्यास आदि अठारह दोष नष्ट होकर आपके अंदर केवलज्ञान रूपी प्रदीप प्रज्वलित हो उठा है/आप पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ, सयोगकेवली अरहंत भगवान हो गए हैं। तत्पश्चात् योगों की चंचलता भी नष्ट होने लगी है, शुक्लध्यानरूपी अग्नि में कर्मरूपी ईंधन जलकर भस्म होने लगा है/आप क्रमशः योग निरोध के बाद अयोगकेवली अरहंत हो गए हैं। जिसका फल ऐसा अद्वितीय आकर्षक हुआ कि आप अत्यंत धवल, कर्म कालिमा से रहित, अपने स्वरूप में परिपूर्ण लीन, स्वस्थ सिद्ध भगवान हो गए हैं। आपने अपनी समग्र साधना का सर्वोत्कृष्ट फल सिद्ध पद प्राप्त कर लिया है।

इसप्रकार इस छंद में मोक्षमार्ग से लेकर मोक्ष पाने पर्यंत की परिपूर्ण प्रक्रिया का/भगवान बनने की विधि का वर्णन आठ द्रव्यों के रूप में किया गया है। जिसका संक्षिप्त सार इसप्रकार है –

भगवान बनने की इच्छा रखनेवाला जीव सबसे पहले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से ज्ञानानंद स्वभावी अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें विशेष लीन होता है/सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान पूर्वक विशिष्ट सम्यक्चारित्रमय मुनिदशा प्रगट करता है। इसके बाद जब वह अपने भगवान आत्मा में और भी अधिक तीव्र अंतरोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक विशेष स्थिर होने लगता है, तब क्षपकश्रेणी का आरोहण कर बारहवें गुणस्थान में पूर्ण निष्कषायी, वीतरागी हो जाता है। इसके बाद वही जीव घातिकर्मों का पूर्ण अभाव होने पर केवलज्ञान आदि अनंतचतुष्टय सम्पन्न तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोग केवली अरहंत हो जाता है। आयु के अंत में मन, वचन, काय संबंधी योगों की चंचलता का नाशकर वही जीव चौदहवें गुणस्थान में अयोगकेवली अरहंत बन जाता है। तत्पश्चात् अत्यंत अल्पकाल में शेष रहे अघाति कर्म तथा शरीर आदि नोकर्मों का भी अभाव हो जाने पर वह जीव सादि अनंतकाल पर्यंत के लिए परिपूर्ण शुद्ध, अव्याबाध सुखमय सिद्ध भगवान हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि संसारी से सिद्ध बनने का उपाय एक मात्र अपने ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर रहना है; अन्य कुछ भी नहीं है।

जयमाला: सीमंधर भगवान-पूजन की जयमाला के प्रारम्भिक छंदों में सीमंधर

भगवान का सामान्य परिचय दिया गया है। इसके बाद की पंक्तिओं में भगवान बनने की विधि बताते हुए; उनकी विद्यमानता को दर्शाया गया है। इसके बाद आचार्य श्री कुंदकुंददेव को सीमंधर भगवान से प्राप्त दिव्यज्ञान की चर्चा करते हुए, उनसे प्राप्त समयसार आदि की तथा अपनी भावना की चर्चा की गई है। अंत में समयसार की महिमा का गान करते हुए पूजन पूर्ण की गई है। इन सबका विस्तार इसप्रकार है –

वैदेही हो देह में, अतः विदेही नाथ।
सीमंधर निज सीम में, शाश्वत करो निवास।।1।।
श्री जिन पूर्व विदेह में, विद्यमान अरहंत।
वीतराग सर्वज्ञ श्री, सीमंधर भगवंत।।2।।

हे सीमंधर भगवान ! आप देह में रहते हुए भी देह/शरीर से भिन्न अतीन्द्रिय आत्मा में पूर्ण लीन होने से वैदेही/देह से सर्वथा भिन्न कहलाते हैं। विदेह क्षेत्र के विद्यमान तीर्थंकर होने से आप विदेही नाथ/विदेह क्षेत्र के स्वामी कहलाते हैं। अपने नाम के अनुसार आप अपने स्व चतुष्टय या द्रव्य-गुण-पर्याय की सीमा में रहते हुए, सदैव आनन्दपूर्वक रह रहे हैं। आप पूर्व विदेह क्षेत्र के विद्यमान अरहंत हैं। हे सीमंधर भगवान ! आप पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ हैं।

हे ज्ञानस्वभावी सीमंधर ! तुम हो असीम आनंदरूप।
अपनी सीमा में सीमित हो, फिर भी हो तुम त्रैलोक्य भूप।।3।।
मोहान्धकार के नाश हेतु, तुम ही हो दिनकर अति प्रचंड।
हो स्वयं अखंडित कर्म शत्रु को, किया आपने खंड खंड।।4।।

ज्ञानस्वभावमयी/केवलज्ञान सम्पन्न हे सीमंधर भगवान ! आप अनंत आनंदमय हैं। आप अपनी सीमा में सीमित/संकुचित रहते हुए भी त्रैलोक्यभूप/तीनलोक के राजा हैं। मोहरूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए आप अत्यंत तेजस्वी ज्ञानरूपी सूर्य हैं। यद्यपि आप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि सभी ओर से अखंडित हैं/अभिन्न हैं; तथापि आपने कर्मरूपी शत्रुओं को खंड-खंड/नष्ट कर दिया है।

गृहवास राग की आग त्याग, धारा तुमने मुनिपद महान।
आतम-स्वभाव साधन द्वारा, पाया तुमने परिपूर्ण ज्ञान।।5।।
तुम दर्शन ज्ञान दिवाकर हो, वीरज मंडित आनंदकंद।
तुम हुए स्वयं में स्वयं पूर्ण, तुम ही हो सच्चे पूर्ण चन्द।।6।।

पूरब विदेह में हे जिनवर ! हो आप आज भी विद्यमान।
हो रहा दिव्य उपदेश, भव्य पा रहे नित्य अध्यात्म ज्ञान।।7।।

हे भगवन ! आपने घर-गृहस्थी में रहने की कारणभूत रागरूपी आग को नष्टकर महान मुनिपद/शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म धारण किया। इसके बाद आत्मस्वभाव की साधना के बल पर आपने परिपूर्ण ज्ञान/केवलज्ञान प्रगट किया है। आप दर्शन-ज्ञानमयी स्व-परप्रकाशी सूर्य हैं; अनंतवीर्य से सुशोभित आनंद के कंद हैं। आप अपने आपमें स्वयं से ही परिपूर्ण हैं तथा वास्तव में आप ही आल्हाददायक वास्तविक परिपूर्ण चंद्रमा हैं। हे जिनेन्द्र भगवान ! आप पूर्व विदेह क्षेत्र में आज भी तीर्थंकररूप में विद्यमान हैं तथा आपका दिव्य/पवित्र उपदेश दिव्यध्वनि द्वारा निरंतर हो रहा है; जिससे भव्य जीव सतत अध्यात्मज्ञान/आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं।

श्री कुंदकुंद आचार्यदेव को, मिला आपसे दिव्य ज्ञान।
आत्मानुभूति से कर प्रमाण, पाया उनने आनन्द महान।।8।।
पाया था उनने समयसार, अपनाया उनने समयसार।
समझाया उनने समयसार, हो गए स्वयं वे समयसार।।9।।
दे गए हमें वे समयसार, गा रहे आज हम समयसार।
है समयसार बस एक सार, है समयसार बिन सब असार।।10।।
मैं हूँ स्वभाव से समयसार, परिणति हो जावे समयसार।
है यही चाह, है यही राह, जीवन हो जावे समयसार।।11।।

पुण्य और पवित्रता के अद्भुत भण्डार आचार्य कुंदकुंददेव को भी आपसे दिव्य/पवित्र ज्ञान की प्राप्ति हुई है। उन्होंने उसे आत्मानुभूति द्वारा प्रमाणित करके महान आनंद प्राप्त किया है। उन्होंने समयसार/सम्पूर्ण दिव्यध्वनि का सार शुद्धात्मा प्राप्त कर लिया है। उसे ही उन्होंने अपना लिया/शुद्धात्मा में ही अपनत्व स्थापित कर वे स्वयं उस रूप ही ज्ञानानंदमय सम्यक्रत्नत्रय सम्पन्न हो गए हैं। उन्होंने शुद्धात्मा के प्रतिपादक समयसार ग्रंथ की रचना करके, उस समयसार को अन्य भव्य जीवों के लिए समझाया है। वे हमें शुद्धात्मा का स्वरूप बतानेवाले उस समयसार को दे गए हैं। हम भी आज उसके माध्यम से समयसार स्वरूप शुद्धात्मा के गीत गा रहे हैं। वास्तव में यह समयसार स्वरूप शुद्धात्मा तथा उसके आश्रय से व्यक्त होनेवाला सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय सम्यक्रत्नत्रयरूप व्यक्त समयसार ही समयसार का/सम्पूर्ण

द्वादशांग वाणी का/दिव्यध्वनि का एकमात्र सार है। इस समयसार के सिवाय शेष सभी असार है/निःसार/व्यर्थ है। मैं भी स्वभाव से आपके ही समान समयसार स्वरूप शुद्धात्मा हूँ। इसके आश्रय से मेरी परिणति भी आपके ही समान समयसारमय हो जाए। हे प्रभो ! मेरी एकमात्र यही इच्छा है तथा इसी मार्ग पर चल रहा हूँ, जिससे मेरा जीवन भी समयसारमय हो जाए।

समयसार है सार, और सार कुछ है नहीं।
महिमा अपरम्पार, समयसारमय आपकी।।12।।

वास्तव में एकमात्र समयसार स्वरूप शुद्धात्मा ही सार है, सम्पूर्ण दिव्यध्वनि का प्रतिपाद्य है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सारभूत नहीं है। हे समयसारमय सीमंधर भगवान ! आपकी महिमा अपरंपार/अनंत/असीम है। मैं उसे कहने में समर्थ नहीं हूँ; अतः मैं तो मात्र अपने परिणामों की पवित्रता के लिए आपकी पूजन कर रहा हूँ।

इन्द्रियजनित सुख की इच्छा करना और दुःख से डरना भ्रम है

जो अरहंतादि के प्रति स्तवनादिरूप विशुद्ध परिणाम होते हैं, उनसे अघातिया कर्मों की साता आदि पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है और यदि वे परिणाम तीव्र हों तो पूर्वकाल में जो असाता आदि पाप प्रकृतियों का बंध हुआ था, उन्हें भी मंद करता है अथवा नष्ट करके पुण्य प्रकृतिरूप परिणमित करता है और उस पुण्य का उदय होने पर स्वयमेव इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्री प्राप्त होती है तथा पाप का उदय होने पर स्वयमेव दुःख की कारणभूत सामग्री दूर हो जाती है। इसप्रकार इस प्रयोजन की भी सिद्धि उनके द्वारा होती है अथवा जिनशासन के भक्त देवादिक हैं, वे उस भक्त पुरुष को अनेक इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्रियों का संयोग कराते हैं और दुःख की कारणभूत सामग्रियों को दूर करते हैं। – इसप्रकार भी इस प्रयोजन की सिद्धि उन अरहंतादिक द्वारा होती है; परन्तु **इस प्रयोजन से कुछ भी अपना हित नहीं होता;** क्योंकि यह आत्मा कषाय भावों से बाह्य सामग्रियों में इष्ट-अनिष्टपना मानकर स्वयं ही सुख-दुःख की कल्पना करता है। कषाय के बिना वह सामग्री कुछ सुख-दुःख की दाता नहीं है तथा कषाय है सो सर्व आकुलतामय है; इसलिए इन्द्रियजनित सुख की इच्छा करना और दुःख से डरना – यह भ्रम है।

मोक्षमार्गप्रकाशक, पहला अधिकार, पृष्ठ-७

पाठ 2

सात तत्त्वों संबंधी भूलें

प्रश्न 1: आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी का व्यक्तित्व और कर्तृत्व लिखिए।

उत्तरः आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी राजस्थान प्रान्त के जैनिओं की काशीरूप में प्रसिद्ध जयपुर नगर के लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों में से एक हैं। आपका अधिकांश जीवन राजस्थान की राजधानी जयपुर में ही व्यतीत हुआ था; तथापि कुछ समय आपको आजीविका के लिए सिंघाणा में भी रहना पड़ा था। वहाँ आप दिल्ली के एक साहूकार के यहाँ कार्य करते थे।

सरस्वती माँ के वरद पुत्ररूप आपका काल अठारहवीं सदी माना जाता है। आपने लगभग विक्रम संवत् 1776-77 के आसपास मनुष्य पर्याय को धारण किया था तथा विक्रम संवत् 1823-24 के आसपास उसे छोड़ दिया था। आपके पिता का नाम जोगीदास और माता का नाम रंभा देवी था। आपके हरिश्चन्द्र और गुमानीराम नामक दो पुत्र थे। गुमानीराम तो आपके समान ही विचक्षण बुद्धि के धनी, क्रांतिकारी सुपुत्र थे। उनके नाम से गुमानीपंथ नामक शैली भी प्रचलित रही है।

खण्डेलवाल जाति के गोदिका गोत्र के नररत्न पं. टोडरमलजी की सामान्य शिक्षा एक आध्यात्मिक तेरा-पंथ-शैली में हुई थी। अगाध विद्वत्ता तो आपने अपने कठोर श्रम और प्रतिभा के बल पर ही प्रगट की थी; बाद में उसे आपने सहृदयता से अन्य लोगों में वितरित भी किया है। आप प्रतिभा-संपन्न, मेधावी और अध्ययनशील व्यक्तित्व के धनी थे। प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त आपको कन्नड़ भाषा का भी ज्ञान था। वि. सं. 1821 की इंद्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका में आपके संबंध में ब्र. रायमलजी लिखते हैं – "ऐसे महंत बुद्धि के धारक पुरुष इस काल विषैं होना दुर्लभ हैं; तातैं यासूँ मिलै सर्व संदेह दूर होय हैं।"

आपका जीवनकाल भारत के संक्रांति कालीन युग का काल था। उस समय राजनीति में अस्थिरता, सम्प्रदायों में तनाव, साहित्य में शृंगार, धार्मिक क्षेत्र में

रूढ़ीवाद, आर्थिक जीवन में विषमता, सामाजिक जीवन में आडम्बर इत्यादि सभी कुछ अपनी चरम सीमा पर था। इन सबसे पण्डितजी को संघर्ष करना था। जो उन्होंने डटकर किया, प्राणों की बाजी लगाकर भी किया।

पं. टोडरमलजी गंभीर प्रकृति के आध्यात्मिक सत्पुरुष थे। वे स्वभाव के सरल, संसार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी, अध्ययनशील, प्रतिभावान, बाह्याडंबर विरोधी, दृढ़ श्रद्धानी, क्रांतिकारी, सिद्धांतों की कीमत पर कभी नहीं झुकनेवाले, आत्मानुभवी, लोकप्रिय प्रवचनकार, सिद्धांत ग्रंथों के सफल टीकाकार, परोपकारी, प्रामाणिक महामानव थे।

आपने अपने जीवन में छोटी-बड़ी बारह रचनाएँ रचीं हैं। जो लगभग एक लाख श्लोक प्रमाण और पाँच हजार पृष्ठों के आसपास हैं। इनमें से कुछ मौलिक और कुछ भाषा टीकारूप हैं। मौलिक रचनाओं में मोक्षमार्ग प्रकाशक, रहस्यपूर्ण चिट्ठी, गोम्मटसार पूजन और समवसरण रचना वर्णन – ये चार सर्वमान्य हैं। टीका रचनाओं में पुरुषार्थसिद्धिउपाय भाषा टीका, आत्मानुशासन भाषा टीका, त्रिलोकसार भाषा टीका तथा सम्यग्ज्ञानचंद्रिका भाषा टीका प्रसिद्ध हैं। सम्यग्ज्ञानचंद्रिका गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार भाषा टीका और अर्थसंदृष्टि अधिकार का संग्रह है।

इसप्रकार आपकी कृतिआँ गद्य-पद्य दोनों ही शैलिओं में उपलब्ध हैं। इनका कालक्रमानुसार विभाजन इसप्रकार है –

क्रम	कृतिआँ		समय विक्रम संवत् में
1.	रहस्यपूर्ण चिट्ठी		वि. सं. 1811
2.	गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषा टीका	सम्यग्ज्ञानचंद्रिका	
3.	गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषा टीका		वि. सं. 1818
4.	अर्थसंदृष्टि अधिकार		
5.	लब्धिसार भाषा टीका		
6.	क्षपणासार भाषा टीका		
7.	गोम्मटसार पूजन		
8.	त्रिलोकसार भाषा टीका		
9.	समवसरण रचना वर्णन		
10.	मोक्षमार्ग प्रकाशक (अपूर्ण)		

11. आत्मानुशासन भाषा टीका

12. पुरुषार्थसिद्धिउपाय (अपूर्ण) – इसे पं. दौलरामजी काशलीवाल ने वि. सं. 1827 में पूर्ण किया है।

आपकी गद्य शैली परिमार्जित, प्रौढ़ और सहज बोधगम्य है। आपकी शैली का सुन्दरतमरूप आपके मौलिक ग्रन्थ मोक्षमार्ग प्रकाशक में देखने को मिलता है। आपकी भाषा मूलरूप में ब्रज होते हुए भी उसमें खड़ी बोली का खड़ापन तथा साथ ही स्थानीय ढूँढारी भाषा की रंगत भी विद्यमान है। आपकी भाषा आपके भावों को वहन करने में पूर्ण समर्थ व परिमार्जित है। आपके संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए 'डॉ. हुकमचंद भारिल्ल' द्वारा लिखित शोध प्रबंध 'पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व-कर्तृत्व' का अध्ययन करना चाहिए।

आपका मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ अध्यात्मगर्भित आगम शैली की अद्भुत रचना है; अनादिकालीन मिथ्या मान्यताओं को जड़मूल से नष्टकर, सम्यक् मोक्षमार्ग का दिशा-निर्देश करने में पूर्ण सक्षम है। अपूर्ण होते हुए भी यह रचना आत्महित की दृष्टि से अपूर्व है। शायद इस रचना के कारण ही आपको 'आचार्यकल्प' की उपाधि से विभूषित किया गया है।

आपका सम्पूर्ण जीवन प्राणीमात्र को धर्मानुरागमय, आत्मोन्मुखीवृत्ति की प्रेरणा का प्रतीक है। अल्पकालीन जीवन में की गई आपकी गंभीरतम साहित्यिक कृतिओं से प्राणीमात्र सदैव उपकृत रहेगा।

प्रश्न 2: पहले वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग दो के तीसरे पाठ में सात तत्त्वों संबंधी भूल का प्रकरण आ गया है; तब फिर उसे यहाँ पुनः क्यों लिखा गया है? उनमें और इनमें अंतर क्या है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः सात तत्त्व आदि प्रयोजनभूत पदार्थों के संबंध में विपरीत मान्यता आदि रूप मिथ्यात्व दो प्रकार का है – अगृहीत और गृहीत।

प्रयोजनभूत तत्त्वों के संबंध में अनादि से ही चली आ रहीं विपरीत मान्यताएं आदि अगृहीत मिथ्यात्व कहलाती हैं तथा मुख्यरूप से मनुष्यगति में, उस अगृहीत मिथ्यात्व को पुष्ट करनेवाली नवीन सीखी हुईं विपरीत मान्यताएं आदि गृहीत मिथ्यात्व हैं।

पं. टोडरमलजी ने अपने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ में इन दोनों का ही पृथक्-

पृथक् वर्णन किया है। उन्होंने अगृहीत मिथ्यात्व का चौथे अध्याय में तथा गृहीत मिथ्यात्व का पाँचवें, छठवें और सातवें – इन तीन अध्यायों में वर्णन किया है। पाँचवें अध्याय में जैनेतर गृहीत मिथ्यात्वों का, छठवें अध्याय में जैन भट्टारकीय परंपरा में प्रचलित बीसपंथी आम्नाय रूप गृहीत मिथ्यात्वों का तथा सातवें अध्याय में शुद्ध तेरापंथी कहलानेवाले स्वाध्यायी जैनिओं के द्वारा नवीन ग्रहण किए गए विशिष्ट प्रकार के गृहीत मिथ्यात्व का वर्णन किया है।

वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग दो के तीसरे पाठ में एकेन्द्रिय से लेकर सैनी पंचेन्द्रिय पर्यंत सभी मिथ्यादृष्टिओं में अनादि से ही विद्यमान अगृहीत मिथ्यात्व का वर्णन किया गया था। ये जीव सात तत्त्वों के संबंध में क्या भूलें करते हैं – यह प्रकरण वहाँ था। यहाँ गृहीत मिथ्यात्व का वर्णन है। जो जीव जैन हैं, जिनवाणी का स्वाध्याय करते हैं, अपनी बुद्धि के अनुसार सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के उपासक हैं, जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मानते हैं; तथापि अपनी अज्ञानता-असावधानीवश इनके भी मिथ्यात्व विद्यमान रहता है। ये जीव सात तत्त्वों के संबंध में कैसी-कैसी विपरीत मान्यताएँ रखते हैं, उन सभी का वर्णन इस पाठ में किया गया है।

कुछ ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव हो सकते हैं कि जिनके अगृहीत मिथ्यात्व होने से पूर्वोक्त भूलें विद्यमान होने पर भी, गृहीत मिथ्यात्व नहीं होने से प्रस्तुत पाठवाली भूलें उनके नहीं हों; परंतु गृहीत मिथ्यात्व के साथ अगृहीत मिथ्यात्व नियम से रहने के कारण जिसके ये भूले हैं, उसके पूर्व पठित भूलें तो नियम से हैं ही। इसप्रकार वहाँ अगृहीत मिथ्यात्व वाली सात तत्त्वों संबंधी भूलों का वर्णन किया गया था और यहाँ विशिष्ट प्रकार के गृहीत मिथ्यात्ववाली सात तत्त्वों संबंधी भूलों का वर्णन किया जा रहा है – यही इन दोनों पाठों के विषय में अंतर है।

प्रश्न 3: जैन शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी मिथ्यात्व कैसे सुरक्षित रह जाता है ?

उत्तरः यद्यपि जिन-शास्त्रों/जिनवाणी के प्रत्येक प्रकरण में मिथ्यात्व को ही नष्ट करने का उपाय बताया गया होने से, उसका अध्ययन करके, तदनुसार अपना जीवन बनाने से मिथ्यात्व नष्ट होकर सम्यक्त्व प्रगट होता ही है; तथापि यदि जिनागम का अध्ययन करनेवाला जीव प्रयोजनभूत तत्त्वों संबंधी विपरीत अभिनिवेश/उल्टी मान्यता नष्ट नहीं करता है, उनकी यथार्थ प्रतीति/भाव-भासना नहीं करता है,

तत्त्वों संबंधी भूलें नष्ट नहीं करता है तो उसका मिथ्यात्व सुरक्षित रह जाता है। जिनागम का अध्ययन कर लेने पर भी भाव-भासना के अभाव में वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो पाता है।

जिनवाणी तो मात्र सही मार्ग बतानेवाली हैं। यदि कोई उसे पढ़कर भी सही मार्ग की पहिचान नहीं कर पाए तो इसमें जिनवाणी का क्या दोष है? उस जीव की ही अपनी अज्ञानता है। इसप्रकार जैनशास्त्र पढ़कर भी अपनी मिथ्या मान्यताओं के कारण मिथ्यात्व सुरक्षित रह जाता है।

प्रश्न 4: जीव-अजीव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यताओं को स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः जिनवाणी का श्रद्धान और बुद्धि के अनुसार अध्ययन आदि करनेवाला यह जीव यद्यपि जीव-अजीव आदि के भेद-प्रभेदों को सूक्ष्मता से भी जान लेता है; तथापि उन्हें जानने का यथार्थ प्रयोजन नहीं समझ पाता है। वह इसप्रकार –

1. जिनवाणी का स्वाध्याय करके त्रस-स्थावर आदि द्रव्य पर्यायों/व्यंजन पर्यायों की अपेक्षा तथा गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि गुण/अर्थ पर्यायों तथा व्यंजन पर्यायों की अपेक्षा जीव के भेद-प्रभेदों को जान लेता है; अजीव के भी पुद्गल आदि जातिगत भेदों को तथा वर्ण आदि गुण-पर्याय कृत विशेषों को तो अच्छी प्रकार से समझ लेता है; परंतु जिन कथनों से स्व-पर का भेदविज्ञान हो सके, रागादि विकारी भावों का अभाव होकर वीतराग दशा हो जाए, उन्हें नहीं पहिचान पाता है।

त्रस-स्थावर आदि, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि पर्यायें जीव और पुद्गल की मिली हुईं असमानजातीय द्रव्य पर्यायें हैं, क्षणिक हैं, मेरे विकारी परिणामों का, कर्मोदय आदि का निमित्त पाकर अपनी स्वतंत्र योग्यता से अपने समयानुसार उत्पन्न होती रहती हैं, नष्ट होती रहती हैं, मेरे प्रदेशों का आकार भी उस समय उनरूप हुआ लगता है; तथापि मैं इन सभी से भिन्न त्रिकाल एकरूप रहनेवाला जीव तत्त्व हूँ; इन पर्यायों के उत्पाद-विनाश से मैं उत्पन्न या नष्ट नहीं होता हूँ; यह परिवर्तित आकार भी मैं नहीं हूँ; मैं तो त्रिकाल असंख्यप्रदेशी एक आकारवाला हूँ – इत्यादि प्रकार के भेदविज्ञान परक कथनों की पहिचान नहीं कर पाता है।

इसीप्रकार मैं त्रिकाल असंयोगी, अविनश्वर हूँ तथा ये सभी पर्यायें संयोगी और क्षणिक हैं – इसप्रकार मेरे स्वभाव से विपरीत होने के कारण मैं ये नहीं, इन रूप नहीं, ये भी मेरी नहीं, ये मुझ रूप नहीं हैं, मैं इनका कर्ता-धर्ता-हर्ता-भोक्ता भी नहीं

हूँ; वास्तव में मेरा इनसे कुछ भी संबंध नहीं है। ये रहें तो रहें, जाएं तो जाएं, मेरा इनसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है – इत्यादि प्रकार की भाव-भासना का अभाव होने से उनके प्रति पूर्ण निरपेक्ष भाव/वीतराग भाव पूर्वक रहने परक कथनों की पहिचान नहीं कर पाता है। यह जीव-अजीव तत्त्व के संबंध में इसकी विपरीत मान्यता है।

इसीप्रकार पुद्गल आदि सभी अजीव द्रव्य और उनके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि सभी विशेष मुझसे अत्यंत पृथक् हैं; मैं भी उनसे अत्यंत पृथक् हूँ; वे मेरे लिए इष्ट-अनिष्ट या सुखदायी-दुःखदायी नहीं हैं; वे मेरे या मैं उनका कर्ता-धर्ता-हर्ता-भोक्ता आदि नहीं हूँ – इत्यादि प्रकार के भेदविज्ञान पोषक और वीतरागदशा होने में कारणभूत कथनों की पहिचान नहीं कर पाता है। यह जीव-अजीव तत्त्व के संबंध में इसकी विपरीत मान्यता है।

2. यदि कभी अनायास, किसी परिस्थितिवश प्रवचन आदि सुनकर या पढ़कर उपर्युक्त जानकारी हो भी जाए तो जिनागम में ऐसा बताया गया है, जैनधर्म ऐसा कहता है, पंचपरमेष्ठिओं का ऐसा उपदेश है – इत्यादि रूप में उसे जान/समझ तो लेता है; परन्तु अपने को आपरूप जानकर, पर का अंश भी अपने में नहीं मिलाना तथा अपना अंश भी पर में नहीं मिलाना – ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता है। मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण, पर्याय आदि की अपेक्षा पर से पूर्णतया पृथक् हूँ; पुद्गल आदि अन्य अजीव पदार्थ भी अपने इन्हीं द्रव्य, क्षेत्र आदि सभी अपेक्षाओं से पूर्णतया पृथक् हैं। मेरा उनके साथ या उनका मेरे साथ किसी भी रूप में, किसी भी प्रकार का, कुछ भी, कभी भी संबंध नहीं है। दोनों परस्पर में पूर्णतया निरपेक्ष, स्वतंत्र स्वसत्ता सम्पन्न हैं – ऐसी वास्तविक भाव-भासना नहीं कर पाता है।

3. यही कारण है कि यह शास्त्रानुसार सही बातों का ज़ानकार होकर भी उपर्युक्त जानकारी से रहित, अन्य अज्ञानी मिथ्यादृष्टिओं के समान आत्माश्रित ज्ञानादि में और शरीराश्रित उपदेश-उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है। मैं जानने-देखनेवाला तत्त्व हूँ – ऐसा भी मानता रहता है तथा मैंने उपवास किया/आहार आदि का त्याग किया, उपदेश दिया, अन्य को पढ़ाया/ समझाया – ऐसा भी मानता रहता है। जबकि जानना-देखना तो पूर्णतया जीव का परिणमन है तथा उपवास आदि कार्य/पेट में भोजन आदि नहीं जाना पूर्णतया शरीररूप पुद्गल का परिणमन

है, उपदेश आदि में वचन आदि निकलना पूर्णतया भाषा वर्गणारूप पुद्गल का परिणमन है; परंतु इसे ऐसा भाव भासित नहीं होता है। यह इसकी जीव-अजीव तत्त्व के संबंध में विपरीत मान्यता है।

4. कभी शास्त्रानुसार उपर्युक्त प्रकार से भी चर्चा करने लगता है; परंतु आत्मा और शरीर की ऐसी चर्चा करता है जैसे अन्य की अन्य से चर्चा करता है। जैसे आत्मा और शरीर पूर्णतया पृथक्-पृथक् हैं; आत्मा ज्ञानादि सम्पन्न है, शरीर वर्णादि सम्पन्न है; आत्मा शरीर का कर्ता-धर्ता नहीं है, शरीर आत्मा का कर्ता-धर्ता नहीं है – इत्यादि रूप में भेदविज्ञान की यथार्थ चर्चा तो करता है; परंतु भाव भासित नहीं होने के कारण मैं आत्मा हूँ, मैं ज्ञानादि सम्पन्न हूँ; मैं इस वर्णादि सम्पन्न शरीरादि से पूर्णतया पृथक् हूँ, मैं इस शरीर का रंचमात्र भी कर्ता-धर्ता नहीं हूँ – इत्यादि रूप में सम्यक् श्रद्धान नहीं कर पाता है। यह इसकी जीव-अजीव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

5. उपर्युक्त प्रकार से भाव भासित नहीं होने के कारण, पर्याय में जीव और पुद्गल के परस्पर निमित्त से होनेवाली क्रियाओं को दोनों के मिलाप से उत्पन्न हुई मानता है। यह जीव की क्रिया है, इसमें पुद्गल निमित्त है; यह पुद्गल की क्रिया है, इसमें जीव निमित्त है – ऐसा भिन्न-भिन्न भाव भासित नहीं होता है। जैसे 'मैंने उपवास किया' – इसमें मैं आज भोजन आदि नहीं करूँ – ऐसा राग मेरी विकृत क्रिया है, ऐसा ज्ञान मेरी स्वाभाविक क्रिया है, मेरी अपनी उपादानगत योग्यता से मुझमें ये दोनों क्रियाएं हुईं हैं; मेरी इन दोनों क्रियाओं में पुद्गल कर्म की उदय, क्षयोपशम आदि रूप तथा शरीर रूप पुद्गल की अवस्था निमित्त है; इसीप्रकार मुँह में/पेट में भोजन आदि नहीं जाना – यह पूर्णतया पुद्गल की क्रिया है; उसकी अपनी उपादानगत योग्यता से मुँह आदि में भोजन नहीं गया है; मैं आज उपवास करूँ – ऐसा मेरा राग और ज्ञान इसमें निमित्त है – ऐसा निमित्त उपादानरूप निमित्त-नैमित्तिक संबंध का भाव भासित नहीं होने के कारण यह उस क्रिया को दोनों के मिलाप से हुई मान लेता है। यह इसकी जीव-अजीव तत्त्व के संबंध में विपरीत मान्यता है।

इसप्रकार शास्त्राभ्यासी होने पर भी जीव-अजीव तत्त्व का भाव भासित नहीं होने के कारण जीव-अजीव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यताएँ चलती रहती हैं; यथार्थ प्रतीति नहीं हो पाती है।

प्रश्न 4: आस्रव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता को स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः 1. जैन शास्त्रों को पढ़कर आस्रव के पुण्य-पाप रूप दो भेद समझ लेने से तथा पुण्य की भूमिका में निचली भूमिकावाली शुद्धता सुरक्षित रहती होने के कारण उसे कथंचित् उपादेय तथा धर्म कहा गया होने से यह मिथ्यादृष्टि जीव हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि रूप पाप परिणामों को हेय तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रम्हचर्य, अपरिग्रह आदि रूप पुण्य परिणामों को उपादेय मान लेता है; – यह इसकी आस्रव तत्त्व के संबंध में विपरीत मान्यता है; क्योंकि पुण्य हो या पाप – दोनों ही परलक्षी, पराधीन परिणाम हैं; पर की स्वतंत्र, परिपूर्ण, अनंतवैभव सम्पन्न सत्ता को अस्वीकार कर, उसे अपने अधीन मानकर, उसमें हस्तक्षेप करने के भाव हैं; आकुलतामय, आकुलता के कारण होने से, बंध के कारण हैं; अतः स्वाधीनता के इच्छुक मोक्षार्थी को पूर्णतया हेय ही हैं; एकमात्र पूर्ण स्वरूपलीनतामय निर्बंधदशा ही उपादेय है; परंतु यह ऐसा स्वीकार नहीं कर पाता है और अज्ञानतावश पाप को बुरा, हेय तथा पुण्य को अच्छा, उपादेय मान लेता है – यह इसकी आस्रव तत्त्व के संबंध में भूल है।

2. यद्यपि निचली भूमिका में पूर्ण स्वरूपलीन नहीं रह पाने के कारण तथा पाप पूर्णतया नहीं छूट पाने के कारण अधिकाधिक तीव्र आकुलता से/ पाप से बचने के लिए मजबूरीवश पुण्य परिणामों को बुद्धिपूर्वक भी स्वीकार करना पड़ता है; आचार्यों ने भी स्वीकार करने का उपदेश/आदेश दिया है; तथापि मजबूरी को मजबूरी समझते हुए श्रद्धा में उसे हेय ही मानना चाहिए। दूसरों को मारने आदि के समान दूसरों की रक्षा आदि करने का भाव भी, दूसरों की स्वतंत्रता को खण्डित करनेवाला, दूसरों की अनंत वैभव सम्पन्न सत्ता में हस्तक्षेप करने रूप अपराध ही है; अतः उसे वास्तव में अच्छा/उपादेय मानना महा अपराध/मिथ्यात्व है – ऐसा मानना चाहिए। यह मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा स्वीकार नहीं करता है – यह इसकी आस्रवतत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

3. जिनवाणी में आस्रव के मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग – ये चार भेद कहे हैं। यह इनके बाह्य स्वरूप को तो आस्रव मानता है; पर अंतरंग वास्तविक स्वरूप की पहिचान नहीं करता है। वह इसप्रकार –

अ. मिथ्यादर्शन – यह जीव कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र आदि की सेवा-उपासनारूप गृहीत मिथ्यादर्शन को तो मिथ्यादर्शन मानता है। उसे आस्रव जानकर, बुरा

मानकर छोड़ने का भी प्रयास करता है; परंतु शरीर आदि पर पदार्थ मैं हूँ, मेरे हैं; मैं इनका कर्ता-भोक्ता हूँ; मैं काला-गोरा, मोटा-पतला आदि रूप हूँ इत्यादि अनादिकाल से चली आई विपरीत मान्यताओं को मिथ्यादर्शन नहीं मानता है। यही कारण है कि यह अगृहीत मिथ्यादर्शन इसे आस्रव नहीं लगता है; अतः बुरा मानकर छोड़ने का प्रयास भी नहीं करता है। यह मिथ्यादर्शन संबंधी भूल है।

ब. अविरति – पाँच स्थावर और त्रसरूप षट्कायिक जीवों की हिंसा आदि रूप प्राणी असंयम को तथा पाँच इन्द्रिय और मन के विषयों में प्रवृत्तिरूप इन्द्रिय असंयम को तो अविरति मानता है। इन्हें बुरा जानकर, इनसे बचने का प्रयास भी करता है; परंतु एक भी जीव की हिंसा नहीं होने पर भी हिंसा आदि प्राणी असंयम में प्रमाद परिणति मूल है/अयत्नाचार प्रवर्तन मुख्य है/असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने का भाव प्राणी संबंधी असंयम है – ऐसा नहीं मानता है। इसीप्रकार विषयों में प्रवृत्तिरूप इन्द्रिय असंयम में अभिलाषा मूल है; किसी भी इन्द्रिय संबंधी विषयभोग में प्रवृत्ति नहीं होने पर भी, उस विषय की इच्छा इन्द्रिय असंयम है – ऐसा नहीं मानता है। यही कारण है कि असावधानीरूप प्रवर्तन का भाव तथा भोगों की इच्छाएं बुरी नहीं लगने के कारण भेदविज्ञान पूर्वक तत्त्वाभ्यास करके उन्हें नष्ट करने की दिशा में प्रयास भी नहीं करता है। यह इसकी अविरति संबंधी विपरीत मान्यता है।

स. कषाय – इसीप्रकार किसी प्रतिकूल प्रसंग आदि का निमित्त पाकर क्रोध आ जाना, किसी सफलता में घमंड हो जाना, कोई कार्य सीधे होता हुआ न जानकर छलपूर्वक करने का भाव आ जाना, अधिकाधिक पदार्थों को संग्रह करने का भाव रहना इत्यादि रूप में व्यक्त होनेवाली बाह्य क्रोधादि कषायों को तो कषाय मानता है। उन्हें बुरा मानकर नष्ट करने की दिशा में भी प्रयास करता है; परंतु अंदर जो राग-द्वेष चलते रहते हैं, प्रीति-अप्रीतिरूप भाव चलते रहते हैं, स्वरूप-लीनता न होकर परलक्षी परिणाम चलता रहता है – यह वास्तविक कषाय है; इसकी इसे पहिचान नहीं है। यही कारण है कि उसे बुरा मानकर, नष्ट करने की दिशा में प्रयास भी नहीं करता है। यह इसकी कषाय संबंधी विपरीत मान्यता है।

द. योग – मन, वचन, काय की बाह्य चेष्टाओं/प्रवृत्तिओं को तो योग मानता है। उन्हें आस्रव मानकर, नष्ट करने का प्रयास भी करता है; परंतु अंदर प्रति समय चलनेवाले शक्तिभूत योगों को नहीं पहिचान पाता है। मन से पाप आदि के चिंतन

को मनोयोग, वाणी द्वारा वचन बोलने को वचनयोग तथा शरीर की हलन-चलनरूप चेष्टाओं को काययोग मानता है; परंतु ये क्रियाएं मैं करूँ या नहीं करूँ – ऐसे भाव पूर्वक होनेवाले आत्म-प्रदेशों के कम्पनरूप शक्तिभूत योग को नहीं पहिचानता। यह इसकी योग संबंधी विपरीत मान्यता है।

4. वास्तव में अंतरंग अभिप्राय में स्थित मिथ्यात्व आदि रूप रागादिभाव ही मूल आस्रवभाव हैं। त्रिकाल ज्ञानानंदस्वभावी अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार नहीं करना मिथ्यादर्शन है। अपनी पर्याय में किसी भी प्रकार का परलक्षी भाव होना हिंसा है; स्वयं अनंतवैभव सम्पन्न परमप्रभु परमात्मा होने पर भी स्वयं को दीन-हीन पामर मानकर प्रवृत्ति करना असत्य है; परपदार्थों को अपने अधिकार में रखने का भाव या पुण्य-पाप परिणामों पर अपना अधिकार जमाने का भाव चोरी है; त्रैकालिक ध्रुव स्वभाव को विस्मृत कर पर्यायमात्र में रमण करना कुशील है तथा पर्याय मात्र में ममत्वकर, उसे सुरक्षित रखने की भावना परिग्रह है; इन पाँचों पापों से विरत नहीं होना अविरति है। स्वभाव से खींचकर/निकालकर पर में उलझानेवाले सभी भाव कषाय हैं; इत्यादि रूप में स्थित आस्रवों/भावास्रवों को तो पहिचानता नहीं है और इनका निमित्त पाकर आनेवाले कर्मों को/द्रव्यास्रवों को ही आस्रव मानता है। इसीप्रकार कुदेवादि के सेवन आदि रूप बाह्य प्रवृत्तिओं को तो मिथ्यादर्शन आदि मानता है; परंतु उपर्युक्त अंतरंग मिथ्यादर्शन आदि को नहीं पहिचानता है। यही कारण है कि इन वास्तविक मिथ्यादर्शन आदि को तो नष्ट करने का उपाय नहीं करता है, कुदेवादि सेवन रूप बाह्य प्रवृत्तिमय मिथ्यात्वादि को छोड़ने मात्र से ही सम्यक्त्वी बनने का प्रयास किया करता है। यही इसकी आस्रव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

प्रश्न 5: बंध तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता को स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः इस शास्त्र-स्वाध्यायी जीव ने जिनवाणी पढ़कर नरक आदि गति संबंधी लौकिक प्रतिकूलताएं जानकर उन्हें बुरा मान लिया है तथा देव आदि गति संबंधी लौकिक अनुकूलताएं जानकर उन्हें अच्छा मान लिया है। हिंसा आदि अशुभ भावों से पाप का बंध होता है, जिसके फल में नरकादि गतिओं रूप दुःख की सामग्री मिलती है तथा अहिंसा आदि शुभभावों से पुण्य का बंध होता है, जिसके फल में देवादि गतिओं रूप सुख की सामग्री मिलती है। ऐसा जानकर यह

जिनवाणी का स्वाध्याय नहीं करनेवाले जीवों के समान दुःख की निमित्तभूत सामग्री को दुःखमय मानकर उससे द्वेष करने लगता है तथा सुख की निमित्तभूत सामग्री को सुखमय मानकर उससे राग करने लगता है। जैसे वर्तमान पर्याय संबंधी सुख-दुःख सामग्री में राग-द्वेष करता है; उसीप्रकार आगामी पर्याय संबंधी सुख-दुःख सामग्री में राग-द्वेष करता है तथा उसके कारणभूत पुण्य-पाप कर्म के बंध को भला-बुरा मानता है। वास्तव में कोई भी सामग्री सुख-दुःख की कारण नहीं होने से, उस सामग्री की प्राप्ति में निमित्त होनेवाले पुण्य-पापरूप कर्म के बंध भले-बुरे नहीं हैं; वरन् बंधमय होने से सभी बुरे/हेय ही हैं; इनमें भले-बुरे का भेद करना ही बंध तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

दूसरी बात यह भी है कि शुभ-अशुभ भावों से पुण्य-पाप का भेद तो मात्र अघाति कर्मों में होता है; परंतु वे आत्मगुण के घातक नहीं हैं। आत्मगुण के घातक, पूर्णतया पापमय घातिकर्म तो शुभ-अशुभ सभी भावों से सतत बँधते रहते हैं; अतः पुण्यबंध को अच्छा मानने का अर्थ है उसके साथ ही नियम से बँधनेवाले पापमय घातिकर्मों को अच्छा मानना। यही बंध तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

इसमें एक बात यह भी है कि देव, मनुष्य और तिर्यंच आयुष्क को छोड़कर शेष सभी पुण्य-पाप प्रकृतिओं का स्थिति बंध पापरूप ही है। पुण्य-पाप का भेद तो अनुभाग आदि की अपेक्षा है। संसार का मूल कारण स्थितिबंध है; अतः पापमय स्थितिबंध के कारणभूत शुभ भावों को अशुभ भावों के समान बुरा नहीं मानना, बंध तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

वस्तु स्थिति तो यह है कि शुभ-अशुभ दोनों ही परिणामों से सतत बँधते रहनेवाले अनुजीविगुणों के घातक तथा पूर्णतया पापमय ही घातिकर्म वे कर्म हैं, जिनके नष्ट हुए बिना अघातिकर्म का तीव्र पुण्योदय भी जीव को सुखी नहीं कर सकता है। यही कारण है कि घातिकर्म का उदय रहते अघातिकर्म का कैसा भी उदय कुछ भी महत्त्व नहीं रखता है; परंतु यदि स्वरूपलीनता के बल पर घातिकर्म नष्ट हो जाते हैं तो अघातिकर्म की विद्यमानता में भी जीव अनन्त चतुष्टय सम्पन्न अरहंत परमात्मा हो जाता है; अतः जिन परिणामों से घातिकर्म भी बँधते हैं, उन परिणामों से बँधनेवाले पुण्य कर्म को अच्छा मानना, बंध तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

यद्यपि पूर्ण स्वरूपलीन नहीं रह पाने पर तीव्र आकुलता से बचने के लिए

मजबूरीवश मंद आकुलतामय शुभभावों में रहना अच्छा है; नरकादि गतिओं में तीव्र प्रतिकूलता भोगने की अपेक्षा देवादि गतिओं में कम प्रतिकूलता भोगना अच्छा है। जिनवाणी में भी तीव्र कषाय से बचने के लिए मंद कषाय में रहने का उपदेश भी है; तथापि मजबूरी को मजबूरी नहीं मानकर; सभी कषायमय भावों को अशुद्ध, दुःखमय, हेय, बंध के कारण नहीं मानकर यदि उनमें अच्छे-बुरे का भेद किया जाता है तो यही वृत्ति बंध तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

प्रश्न 6: संवर तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता को स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः 1. निचली भूमिका में वीतराग परिणामों का निमित्त और सहचारी होने से वीतरागता रूप संवर परिणामों के साथ रहनेवाले अहिंसा आदि रूप शुभभावों को भी उपचार से संवर या धर्म जिनागम में कहा गया है। यह शास्त्र-स्वाध्यायी जिनागम का अभिप्राय नहीं समझ पाने के कारण इन शुभभावों को ही संवर मान लेता है। वह इतना भी विचार नहीं कर पाता है कि जिन भावों से पुण्य कर्मों का बंध होता है, उन्हीं भावों से कर्मों का संवर/आस्रव का रुकना कैसे हो जाएगा? यद्यपि अंतरात्मा रूप साधक की निचली दशा में भूमिकानुसार शुभ-अशुभ और शुद्ध का मिश्रण चारित्र गुण की पर्याय में पाया जाता है; तथापि उसमें भी उस शुभ-अशुभ भाव रूप अंश से कर्मों का आस्रव-बंध ही होता है; संवर तो उस शुद्ध भावरूप अंश से ही है, अशुद्ध भाव से नहीं है। यह तथ्य समझ में नहीं आने के कारण शुभभाव में संवर के भ्रम से यह उन प्रशस्तराग रूप शुभभावों/क्रियाओं को उपादेय मानता है – यह इसकी संवर तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

2. जिनवाणी में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, चारित्र आदि संवर के अनेक कारण कहे हैं। यह उनकी भी यथार्थ श्रद्धा नहीं करता है। जैसे –

गुप्ति – मन में पाप-चिंतन नहीं करके मन की चेष्टा मिटाकर, मौन धारण कर वचन की चेष्टा मिटाकर तथा हलन-चलन आदि नहीं कर काय की चेष्टा मिटाकर इत्यादि रूप में मन, वचन, काय की बाह्य चेष्टाएं मिटाने को गुप्ति मानता है; परंतु उस समय मन में भक्ति आदि रूप विविध प्रशस्त विचार तो चल रहे हैं, मन का निग्रह कहाँ हुआ? इसीप्रकार बुद्धिपूर्वक वचन और काय की चेष्टा रोकना तो शुभभाव और शुभ प्रवृत्ति है, इनमें वचन और काय का निग्रह कहाँ हुआ? गुप्ति पर प्रवृत्तिरूप नहीं है। स्वरूपलीनता रूप वीतरागभाव होने पर मन-वचन-काय की

प्रवृत्ति स्वयमेव रुक जाना/योगों का भली-भाँति निग्रह हो जाना, वास्तविक गुप्ति है। इसकी पहिचान नहीं होने के कारण यह मन-वचन-काय की प्रशस्त प्रवृत्ति को गुप्ति मान लेता है – यह इसकी गुप्ति के संदर्भ में विपरीत मान्यता है।

समिति – गमन आदि क्रिया करते समय अन्य जीवों की रक्षा के लिए होनेवाली यत्नाचार रूप प्रवृत्ति को यह जीव समिति मान लेता है; परंतु यह इतना विचार नहीं कर पाता है कि अन्य को मारने आदि के भाव से पाप बंध होता है और रक्षा का भाव समिति रूप संवरमय धर्म है तो पुण्य बंध किससे होगा?

दूसरी बात यह है कि समिति के तो पाँच भेद जिनवाणी में बताए गए हैं। इनमें से चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलनेरूप ईर्या समिति में, हित-मित-प्रिय वचन बोलनेरूप भाषा समिति में, पीछी-कमण्डलु-शास्त्र आदि उपकरण देख-शोधकर उठाने-रखनेरूप आदान-निक्षेपण समिति में और निर्जन्तुक भूमि देखकर मल-मूत्र आदि क्षेपण करनेरूप उत्सर्ग/प्रतिष्ठापना समिति में तो प्रवृत्ति जीव रक्षा के लिए है; परन्तु छ्यालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर आहार लेनेरूप एषणा समिति में प्रवृत्ति तो जीवरक्षा के लिए नहीं होती है; एकमात्र निरीह वृत्ति और शरीर के प्रति निर्ममत्व की मुख्यता से भोजन का भाव समाप्त हो जाने के कारण होती है; तब फिर इसे समिति कहना कैसे संभव हो सकेगा?

वास्तव में तो मुनिराजों के मिथ्यात्व और तीन चौकड़ी कषाय का अभाव हो जाने से व्यक्त वीतरागता के साथ शेष रहीं संज्वलन चतुष्क आदि कषायों के उदय में गमन आदि क्रिया होने पर भी, उनमें तीव्र आसक्ति नहीं होने के कारण प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती है; अन्य जीवों को दुःखीकर अपना गमन करने आदि रूप कार्य को करने का भाव उनके नहीं होने से स्वयमेव दया पल जाती है – यह वास्तविक समिति है; अतः पर जीवों की रक्षा के लिए यत्नाचाररूप प्रवृत्ति करने को समिति मानना, समिति के संबंध में विपरीत मान्यता है।

धर्म – पर पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर, इच्छा के विरुद्ध कार्य आदि हो जाने से उन पर क्रोधादि करने का अभिप्राय विद्यमान होने पर भी; 'यदि में क्रोधादि करूँगा तो सभी मुझे यहाँ बुरा कहेंगे, नरकादि रूप पाप का बंध भी होगा, जिसका उदय आने पर परभव में भी दुःख भोगना पड़ेगा तथा यदि मैंने क्रोधादि नहीं किए तो यहाँ भी सभी अच्छा कहेंगे तथा आगे भी स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होगी' – ऐसा

विचारकर पाप बंध आदि के भय से और स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि नहीं करने को धर्म मानता है; पर वास्तव में इसके क्रोधादि नष्ट नहीं हुए हैं, अंदर तो विद्यमान हैं; मात्र बाहर व्यक्त नहीं हुए हैं; परंतु फल तो अंतरंग परिणामों का मिलता है, बाह्य शरीर आदि की क्रिया का नहीं मिलता है; अतः मात्र बाहर में क्रोधादि व्यक्त नहीं होने से कोई धर्मात्मा नहीं हो जाता है; अंतरंग में क्रोधादि करने का अभिप्राय नष्ट होने पर धर्मात्मा होता है।

वास्तव में तो पदार्थ इष्ट-अनिष्ट लगने से क्रोधादि होते हैं। वस्तु का वास्तविक स्वरूप समझने से, स्व-पर का यथार्थ भेदविज्ञान हो जाने से जब कोई भी पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं लगता है; तब स्वयमेव क्रोधादि उत्पन्न ही नहीं होते हैं; उत्तमक्षमा आदि हो जाते हैं, जीवन सम्यक्रत्नत्रय सम्पन्न अहिंसक धर्ममय हो जाता है। इस शास्त्राभ्यासी को इसकी पहिचान नहीं है। यह इसकी धर्म के संबंध में विपरीत मान्यता है।

अनुप्रेक्षा – शरीर आदि बाह्य संयोग अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखदायी हैं, मलिन हैं इत्यादि रूप में शरीर आदि संयोगों का स्वभाव जानकर, उनसे उदास होने को अनुप्रेक्षा मानता है; परंतु यह वास्तविक अनुप्रेक्षा नहीं है, वरन् उनके प्रति द्वेषभाव है। शास्त्र अभ्यास आदि से पूर्व इन संयोगों को स्थायी, शरणभूत, सुखमय/सुखदायक, अच्छे समझकर उनमें राग करता था और अब शास्त्र अभ्यास करके उन्हें अनित्य आदि रूप समझकर उनमें द्वेष करने लगा। यहाँ वीतरागभाव कहाँ रहा? यदि शरीर आदि संयोग अनित्य आदि रूप नहीं होते तो क्या उनके प्रति उदासीन नहीं होता? यदि परिवार-कुटुम्बीजन स्वार्थ के सगे नहीं होते, निःस्वार्थ भाव से सेवा-शुश्रूषा करते तो क्या उनके प्रति उदासीन नहीं होता? इससे लगता है कि इसकी उदासीनता द्वेषपरक है, वीतरागतापरक नहीं है।

अपने और शरीर आदि संयोगों के वास्तविक स्वभाव को पहिचानकर, उन्हें अपने से पूर्णतया भिन्न जानकर, पर पदार्थों को अपना या भला-बुरा माननेरूप भ्रम को मिटाकर, उनकी अपने अनुकूल प्रवृत्ति होने पर भी उनके प्रति राग नहीं करना तथा उनकी अपने प्रतिकूल प्रवृत्ति होने पर भी द्वेष नहीं करना, उन्हें अपने से पूर्णतया पृथक् मानकर उनके प्रति उदासीन भाव बढ़ाने के लिए अनित्यता आदि का चिंतन करना वास्तविक अनुप्रेक्षा है। इसे इसकी पहिचान नहीं है, यही इसकी अनुप्रेक्षा के संबंध में विपरीत मान्यता है।

परिषहजय – यह शास्त्र-अभ्यासी भूख-प्यास आदि कष्ट होने पर, उन्हें नष्ट करने के उपाय नहीं करने को परिषहजय मानता है; परंतु भले ही इन्हें नष्ट करने का उपाय नहीं किया, पर ये परिस्थितिआँ अनिष्ट हैं, दुःखदायी हैं ऐसी मान्यता तो वनी ही रही तथा भूख आदि से दुखी भी होता रहा है; तब यह परिषह सहना कहाँ हुआ? यह तो अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान हुआ; इसीप्रकार प्रीति आदि की कारणभूत अनुकूल परिस्थितिआँ बनने पर सुखी होना तो परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान है, परिषहजय/संवर नहीं है। मैं अपने से पृथक् सम्पूर्ण परपदार्थों से पूर्णतया पृथक् हूँ। मेरे सुख-दुःख इन सभी से पूर्णतया निरपेक्ष मेरे परिणामों के ही आश्रित हैं। जगत का अन्य कोई भी पर पदार्थ रंचमात्र भी सुख-दुःख का कारण नहीं है। – वस्तु के इस वास्तविक स्वरूप का निर्णयकर, यथार्थ स्व-पर भेदविज्ञानकर, दुःख के कारण मिलने पर भी दुखी नहीं होते हुए तथा सुख के कारण मिलने पर भी सुखी नहीं होते हुए, समस्त परपदार्थ रूप ज्ञेयों के प्रति मात्र सहज ज्ञाता-दृष्टारूप वने रहना, सहज समताभाव रखना परिषहजय है। यह परिषहजय का ऐसा स्वरूप नहीं समझ पाता है, यह इसकी परिषहजय संबंधी विपरीत मान्यता है।

चारित्र – यह जिनवाणी का स्वाध्याय करनेवाला जीव हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि रूप सावद्ययोग/पापक्रियाओं के त्याग को चारित्र मानता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रम्हचर्य और अपरिग्रहरूप महाव्रतादिमय शुभयोग को उपादेय मानता है, चारित्र मानता है; परंतु तत्त्वार्थसूत्र आदि जिनवाणी में अणुव्रत-महाव्रत को शुभास्रव कहा है; ये मंद कषायरूप परिणाम पराश्रित हैं, बंध के कारण तथा बंधमय हैं; चारित्र तो इससे विरुद्ध निष्कषायमय, स्वाधीन, मोक्ष का कारण तथा मोक्षमय है; तब फिर पाप आदि के त्यागरूप, शुभभावमय व्रत आदि चारित्र कैसे हो सकते हैं?

यद्यपि मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी आदि तीन चौकड़ी कषाय के अभाव में व्यक्त हुई उदासीनता-भावरूप वीतरागता सम्पन्न मुनिराज के संज्वलन आदि कषायों के उदय में अट्ठाईस मूलगुण आदि के पालनरूप प्रशस्तराग प्रगट होता है; पूर्ण स्वरूपलीन रहने में समर्थ नहीं होने के कारण वे इसमें प्रवृत्त भी होते हैं; तथापि वे इसे चारित्र का मल/दोष ही जानते हैं, हिंसा आदि तीव्र कषायरूप परिणामों से बचने के लिए मजबूरीवश अपनाया गया उपाय मानते हैं; बंध का

कारण, बंधमय होने से तथा कर्मकृत परिणाम होने के कारण हेय ही मानते हैं, उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते हैं।

वीतरागतारूप वास्तविक चारित्र के निमित्त या सहचारी होने से यद्यपि जिनवाणी में भी महाव्रत आदि शुभभावों को उपचार से चारित्र कहा गया है; तथापि वे वास्तव में तो मंद कषायरूप परिणाम होने से आस्रव, बंधरूप ही हैं, चारित्ररूप संवर नहीं हैं। चारित्ररूप संवर तो एकमात्र निःकषाय भावरूप वीतरागता/स्वरूप-लीनता ही है। यह इसे नहीं पहिचानता है; यही इसकी चारित्र संबंधी विपरीत मान्यता है।

इसप्रकार निचली भूमिका में व्यक्त वीतरागता के निमित्त या सहचारी होने से, आस्रव-बंधरूप जिन शुभभावों को उपचार से संवर कहा गया था; यह शास्त्र-अभ्यासी उन्हें ही वास्तविक संवर मान लेता है; वीतरागतारूप वास्तविक संवर को नहीं पहिचानता है – यह इसकी संवर तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

प्रश्न 7: निर्जरा तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता को स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः अपने ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिरता से जो वीतरागता की वृद्धि होती है, क्रमशः अशुद्धि नष्ट होती जाती है, तदनुसार ही शुद्धि बढ़ती जाती है तथा इसका निमित्त पाकर पूर्वबद्ध कर्म भी क्रमशः खिरते जाते हैं – इस स्थिति को निर्जरा कहते हैं। अनंतवैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में संतुष्टि/तृप्ति के बल पर परपदार्थों संबंधी इच्छाओं का निरोधरूप तप इस निर्जरा का मुख्य कारण है। इस तप के अनशन आदि बारह भेद हैं। निचली दशा में उन सभी में वीतरागता और सरागता रूप मिश्रभाव विद्यमान रहता है। तदनुसार तप के उन सभी भेदों में अंतरंग और बहिरंग क्रियाएं भी होती हैं। यह शास्त्राभ्यासी जिनवाणी से उनकी बहिरंग क्रियाओं को जानकर उन्हें तो तप मानने लगता है; परंतु वीतरागतारूप अंतरंगतप की पहिचान नहीं कर पाता है। यही कारण है कि यह अनशन आदि रूप शुभभाव या शुभ क्रिया आदि को ही निर्जरा का कारण मानता है – यह इसकी निर्जरा तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

भोजन-पान आदि के त्यागरूप बाह्य अनशन आदि को तो बाह्य में दिखाई देने के कारण बाह्य तप कहा जाता है; परंतु वास्तव में इस बाह्य क्रिया का कुछ

भी फल जीव को नहीं मिलता है, उसे तो अपने अंतरंग परिणामों का ही फल मिलता है। अनशन आदि और प्रायश्चित्त आदि को तप कहने का कारण तो यह है कि अनशन आदि बाह्य साधन पूर्वक प्रायश्चित्त आदि रूप प्रवर्तन करके वीतराग भावरूप सत्य तप का पोषण किया जाता है। यह वीतरागभाव स्वयं निर्जरारूप है – इसकी पहिचान नहीं होना ही निर्जरा तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

निचली भूमिका में ज्ञानीजन भी यद्यपि इन तपों रूप प्रवृत्ति करते हैं; तथापि उनके उपवास आदि की इच्छा नहीं है। वे तो एकमात्र स्वरूपलीन रहना चाहते हैं, शुद्धोपयोग चाहते हैं। यदि उपवास आदि करने से शुद्धोपयोग बढ़ता है तो उपवास आदि करते हैं और यदि उपवास आदि से शरीर या परिणामों की शिथिलता के कारण शुद्धोपयोग शिथिल होता है तो आहार आदि ग्रहण करते हैं; पर तप तो अंतरंग परिणामों की शुद्धता को ही मानते हैं, उससे ही निर्जरा होती है। इसे नहीं पहिचाननेवाले के निर्जरा तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता विद्यमान है।

अनशन आदि रूप और प्रायश्चित्त आदि रूप बाह्य प्रवृत्ति होने पर अंतरंग परिणामों की शुद्धता होने के कारण उन बाह्य प्रवृत्तिओं को भी उपचार से तप/निर्जरा का कारण कहा जाता है; तथापि उन्हें ही वास्तव में तप/निर्जरा का कारण मान लेना निर्जरा तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

प्रश्न 8: मोक्षतत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता को स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः समस्त परपदार्थों, विकारीभावों, भेदभावों से रहित; अनंतवैभव सम्पन्न अपने ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा का पर्याय में पूर्ण प्रगट हो जाना मोक्ष है। मोक्ष के इस वास्तविक स्वरूप को नहीं पहिचानने से यह अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि –

1. जन्म-मरण-रोग-क्लेश आदि दुःख दूर होना, अनंतज्ञान द्वारा लोकालोक की जानकारी हो जाना, त्रिलोक पूज्यपना हो जाना मोक्ष है। यद्यपि स्वात्मा की परिपूर्ण अभिव्यक्ति हो जाने से मोक्ष में ये सभी विशेषताएं भी होती हैं; पर वास्तव में ये सभी मोक्ष दशा नहीं, मोक्षदशा के प्रतिफल हैं, उसे पहिचानने के स्थूल चिंह हैं। यह शास्त्र-स्वाध्यायी जीव अन्य भोले जीवों के समान इन विशेषणों से ही मोक्ष की महिमा मानता है – यह इसकी मोक्ष तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

2. यह जीव स्वर्ग-सुख और मोक्ष-सुख की जाति भी समान मानता है। इसका ऐसा अभिप्राय है कि स्वर्ग में जितना सुख है, उससे अनंतगुणा अधिक सुख मोक्ष

में है; परंतु स्वर्ग में तो इन्द्रियजनित, विषय आदि सामग्री के अधीन, बाधा सहित, कर्मबंध का कारणभूत, अतृप्तिकारक, कषायमय, आकुलतामय, हीनाधिकता सहित सापेक्ष सुख है, वास्तव में तो वह दुःख की कमी रूप सुखाभास है; तथा मोक्ष-सुख तो पूर्णतया अतीन्द्रिय, विषय आदि सामग्री से पूर्णतया निरपेक्ष, अव्याबाध, कर्मबंध से रहित, परमसंतुष्टिकारक, वीतरागतामय, निराकुल, अनंतकाल पर्यंत भी एकरूप ही रहनेवाला है – इसप्रकार ये दोनों सुख पूर्णतया पृथक्-पृथक् हैं। यह इस स्वभावगत पृथक्ता को नहीं पहिचानता है – यह इसकी मोक्ष तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

3. यह स्वर्ग-सुख और सिद्ध-सुख की प्राप्ति का कारण भी एक ही मानता है। इसका ऐसा अभिप्राय है कि जिस धर्मसाधन का फल स्वर्ग है, उसी धर्मसाधन का फल मोक्ष है; अंतर मात्र इतना है कि जिसके धर्मसाधन कम होता है, वह स्वर्ग प्राप्त करता है और जिसके धर्मसाधन समग्र/परिपूर्ण होता है वह मोक्ष प्राप्त करता है; परंतु इसकी यह विपरीत मान्यता है; क्योंकि स्वर्ग का कारण प्रशस्तराग है और मोक्ष का कारण वीतराग भाव है। स्वर्ग तो कषाय की मंदतारूप शुभभावों से देवायु आदि कर्मों का बंध होने पर, उनके उदय में प्राप्त होता है; जबकि मोक्ष दशा तो निष्कषायरूप परिणामों से कर्मों का पूर्णतया अभाव हो जाने पर व्यक्त होती है। स्वर्ग पूर्वकृत अपराधों की सजा भोगने का स्थान होने से उसका कारण स्वरूप से भ्रष्टता रूप परलक्षी भाव है; जबकि मोक्ष पूर्ण निरपराधी दशा होने से उसका कारण परिपूर्ण स्वरूपलीनतामय शुद्धभाव है। स्वर्ग तो अणुव्रत, महाव्रत, शील, संयम, दया, दान, पूजा आदि विविध शुभभावों में से किसी भी शुभभाव द्वारा कोई भी मनुष्य, तिर्यंच प्राप्त कर सकता है; परंतु मोक्ष तो एक मात्र परिपूर्ण स्वरूपलीनता द्वारा वज्रवृषभनाराचसंहनन सम्पन्न शरीरवान कर्मभूमि का पुरुष ही प्राप्त कर सकता है – इत्यादि अनेकानेक रूप में दोनों के कारण पूर्णतया पृथक्-पृथक् होने से, एक ही कारण से दोनों की प्राप्ति मानना मोक्ष तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

प्रश्न 9: पुण्य को मुक्ति का कारण मानने में क्या आपत्ति है? इस मान्यता में कौन-कौन से तत्त्व संबंधी भूलें होंगी?

उत्तर: पुण्य में पुण्य परिणामरूप शुभभाव, पुण्यकर्म का बंधरूप पुण्यबंध तथा उस बंध के उदय में प्राप्त पुण्य सामग्री/देव-शास्त्र-गुरु का समागम इत्यादि सभी कुछ

गर्भित है। इनमें से किसी भी पुण्य को मुक्ति का कारण मानने पर अनेकानेक आपत्तिओं का सामना करना पड़ेगा; उनमें से कुछ इसप्रकार हैं –

1. पुण्य परिणामरूप शुभभाव मोक्ष का कारण है तथा हिंसा आदि अशुभभाव पाप बंध के कारण हैं; तब फिर पुण्य बंध किससे होगा ?

2. आस्रव और बंध के पुण्यास्रव और पुण्यबंध – ये भेद नहीं बन सकेंगे।

3. जीव-भावों के शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोग – ये तीन भेद नहीं बनेंगे।

4. यथाख्यात चारित्र सम्पन्न ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यंत जीवों के पुण्य परिणाम नहीं होने से उनकी मुक्ति नहीं हो सकेगी।

5. इससे शुक्लध्यान, गुणस्थान के सभी भेद तथा बहिरात्मा आदि आत्मा के तीन भेद नहीं बन सकेंगे।

6. पापकर्म से नरकादि गतिआँ मिलतीं हैं, पुण्यकर्म से मोक्ष मिलता है, तब फिर स्वर्गादि गतिआँ किससे मिलेंगी ?

7. अभव्य जीव भी शुक्ल लेश्यामय पुण्य परिणाम कर लेता है; तब फिर उसके दृष्टि मोक्ष आदि चार मोक्षों में से एक भी मोक्ष क्यों नहीं होता है ?

8. नियामक तादात्म्य संबंधवाले कारण कार्य में विद्यमान रहते हैं – इस न्याय से सिद्ध भगवान के पुण्य परिणाम मानने पड़ेंगे, तब फिर सिद्ध और संसारी का भेद किस आधार से बनेगा ?

9. कारण के समान ही कार्य होता है (कारणानुविधायीनि कार्याणि) इस न्याय के अनुसार पुण्य परिणाम परलक्षी, पराधीन, आकुलतामय परिणाम होने से उससे स्वलक्षी, स्वाधीन, निराकुलतामय मोक्षदशा कैसे प्रगट होगी ?

10. एक ही समान देव-शास्त्र-गुरु का समागम आदि पुण्य सामग्री की उपस्थिति में भी पृथक्-पृथक् जीव पृथक्-पृथक् गतिआँ क्यों प्राप्त करते हैं ?

इत्यादि अनेकानेक आपत्तिओं/समस्याओं का समाधान कर पाना असम्भव है।

इसीप्रकार पुण्य को मुक्ति का कारण मानने पर आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व संबंधी विपरीतताएं होंगीं; जिससे सभी तत्त्वों संबंधी विपरीत मान्यताएँ आ जाएंगी।

इन सभी समस्याओं, तत्त्व संबंधी विपरीतताओं से बचने का उपाय मात्र एक ही है कि पुण्य को मुक्ति का कारण नहीं मानें; एकमात्र वीतरागता को ही मुक्ति का कारण मानें। जहाँ कहीं जिनागम में पुण्य को मुक्ति का कारण लिखा है, उसे पूर्णतया औपचारिक व्यवहारनय का कथन समझना ही, इन समस्याओं से छूटने का एकमात्र उपाय है।

प्रश्न 10. स्वर्ग और मोक्ष में कारण और स्वरूप की अपेक्षा भेद बताइए।

उत्तर : स्वर्ग और मोक्ष में कारण और स्वरूप की अपेक्षा अत्यधिक भेद/अंतर है। वह इसप्रकार –

स्वर्ग	(कारण की अपेक्षा अन्तर)	मोक्ष
1. इसका कारण प्रशस्त राग है।		इसका कारण वीतरागभाव है।
2. इसका कारण अपराध है।		इसका कारण निरपराधता है।
3. शुभभावरूप कारणों में परस्पर विविधता है।		इसका कारण त्रिकाल एकरूप है।
4. इसका कारण परलक्षी परिणामरूप अशुद्धोपयोग है।		इसका कारण स्वलक्षी परिणामरूप शुद्धोपयोग है।
5. विराधक या साधक दशा इसकी कारण है।		इसकी कारण साध्य दशा है।
6. निमित्तरूप में इसका कारण पूर्वबद्ध कर्म का उदय है।		निमित्तरूप में इसका कारण कर्म का क्षय है।
7. विशिष्ट गति या विशिष्ट संयोग भी इसके नियामक कारण हैं। जैसे भोगभूमि का जीव मरकर नियम से स्वर्ग (देवगति) प्राप्त करता है, तीर्थंकर की माता नियम से स्वर्ग प्राप्त करती है इत्यादि।		कोई गति या संयोग इसका नियामक कारण नहीं है। एकमात्र सम्यक्रत्नत्रय की परिपूर्णता ही नियामक कारण है।

इत्यादि अनेक प्रकार से कारण की अपेक्षा इन दोनों में अन्तर है।

स्वर्ग	(स्वरूप की अपेक्षा अन्तर)	मोक्ष
1. यह संसार दशा है।		यह संसारातीत सिद्ध दशा है।
2. यह शरीर सहित, सादि-सांत दशा है।		यह अशरीरी, सादि-अनंतदशा है।
3. यहाँ इन्द्रियजन्य सुखरूप मंद आकुलता है।		यह पूर्ण निराकुल, अतीन्द्रिय आनंदमय है।
4. यहाँ जन्म-मरण आदि अठारह दोष हैं।		यह सभी दोषों से रहित, पूर्णतया निर्दोष है।
5. यहाँ तीनों प्रकार के कर्म हैं।		यहाँ किसी भी प्रकार का कर्म नहीं है। ये निष्कर्म हैं।
6. ये कृतकृत्य नहीं हैं।		ये पूर्ण कृतकृत्य हैं।
7. इनमें गति, शरीर, परिग्रह, ज्ञान, कषाय आदि की अपेक्षा अत्यधिक असमानताएं हैं।		यहाँ आत्मप्रदेशों की अवगाहना/आकार-प्रकार की असमानता के अतिरिक्त अन्य कोई भी असमानता नहीं है।
8. ये विराधक या साधक ही होते हैं।		ये साध्य दशा सम्पन्न हैं।
9. यहाँ एक से चार गुणस्थान ही होते हैं।		ये गुणस्थानातीत हैं।
10. ये अचल नहीं हैं, मरणकर या शरीर सहित भी अन्यत्र जा सकते हैं।		ये पूर्णतया अचल हैं।
11. आत्मा का स्वभाव इनके समान नहीं है।		आत्मा का स्वभाव इनके समान ही है।
12. यहाँ अनेक जीवों की अपेक्षा पाँचों भाव हैं।		यहाँ मात्र क्षायिक और पारिणामिक – ये दो भाव ही हैं।

इत्यादि अनेक प्रकार से स्वरूप की अपेक्षा भी इन दोनों में अन्तर है। ●

पुण्य-पाप का श्रद्धान होने पर पुण्य को मोक्षमार्ग न माने या स्वच्छन्दी होकर पापरूप न प्रवर्ते, इसलिए मोक्षमार्ग में इनका श्रद्धान भी उपकारी जानकर दो तत्त्व विशेष के विशेष मिलाकर नवपदार्थ कहे। **– मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ-३१७**

पाठ 3

लक्षण और लक्षणाभास

प्रश्न 1: अभिनव धर्मभूषण यति के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर: जैन न्याय की अमर रचना एकमात्र न्यायदीपिका को रचकर जैन न्याय वाङ्मय के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनानेवाले अभिनव धर्मभूषण यति ने संभवतया कर्नाटक देश के विजयनगर स्थान को अपने जन्म, साधना और समाधि से गौरवान्वित किया है। आप शक संवत् 1280 से 1418 के आसपास उस प्रांत को अंलकृत कर रहे थे। इसप्रकार अनेकानेक ऐतिहासिक शिलालेखों आदि के आधार पर आपका समय ईसा की चौदहवीं शदी के उत्तरार्ध से ईसा की पंद्रहवीं शदी के पूर्वार्ध पर्यंत माना गया है।

आपके प्रभाव और व्यक्तित्व के सूचक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि आप अपने समय के बड़े ही प्रभावक और विशिष्ट व्यक्तित्व के धनी जैन गुरु रहे हैं। राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि से विभूषित प्रथम देवराय आपके चरणों में अपना शिर झुकाया करते थे। आपने विजयनगर के राजघराने में जैनधर्म की सातिशय प्रभावना की है।

जैन साहित्य में धर्मभूषण नाम के अनेक साहित्यकार हुए हैं। उन सबसे पृथक् करने के लिए आप अपने नाम के आगे 'अभिनव' शब्द और अंत में 'यति' शब्द लगाया करते थे। कुंदकुंद आम्नायी आपके गुरु का नाम वर्धमान था। यद्यपि आप दिगंबर जैन मुनि थे; तथापि विजयनगर के भट्टारकीय पट्ट पर आसीन होने से आप 'भट्टारक' नाम से विश्रुत हुए।

जैनधर्म की प्रभावना करना तो आपके जीवन का व्रत था ही; ग्रंथ रचना के कार्य में भी आपने अपनी अद्भुत सूझबूझ, तार्किक शक्ति और विद्वत्ता का सुंदरतम ढंग से पूरा-पूरा उपयोग किया है। आज हमें आपकी एकमात्र अमर रचना 'न्यायदीपिका' ही प्राप्त है। यद्यपि अधिकांशतया न्याय ग्रंथों की भाषा दुरूह और अति गंभीर होती है; तथापि प्रस्तुत न्यायदीपिका ग्रंथ की भाषा अत्यंत सुबोध और

सरल संस्कृतमय है। इस रचना में आपने प्रमाण, नय आदि का संक्षिप्त परंतु अत्यंत विशद और तर्कसंगत वर्णन किया है। अपने विषय-प्रतिपादन के संदर्भ में आप स्वयं लिखते हैं कि यह न्यायदीपिका नामक संदर्भ ग्रंथ मैंने बालबुद्धि जीवों के लिए अत्यंत संक्षेप में स्पष्टरूप से न्याय समझाने के लिए लिखा है। आप अपने प्रत्येक प्रतिपाद्य विषय का विश्लेषण उद्देश, लक्षण-निर्देश और परीक्षा के माध्यम से करते हैं। 'लक्षण का लक्षण' के रूप में 'असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्'की मीमांसा न्याय साहित्य में आपकी एक अपूर्व देन है।

इसप्रकार द्रव्यानुयोग के अध्यात्म को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक न्याय के विषयों की स्पष्ट, विशद, संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से आपकी प्रस्तुत कृति 'न्यायदीपिका' एक अनुपम रचना है। हमें न्याय-विषय का परिज्ञान करने के लिए इस ग्रंथ का गंभीरता पूर्वक अध्ययन, मनन, चिंतन अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न 2: लक्षण किसे कहते हैं ? लक्ष्य और अलक्ष्य की परिभाषा भी बताइए।

उत्तरः लक्षण – अनेक मिली हुई वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को पृथक् करनेवाले हेतु को लक्षण कहते हैं। न्यायदीपिका नामक ग्रंथ में इसकी परिभाषा इसप्रकार दी गई है –

''व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिर्हेतुर्लक्षणम् – मिली हुई वस्तुओं को पृथक् करने का हेतु लक्षण है।''

आचार्य अकलंकदेव अपने तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) ग्रंथ में लक्षण की परिभाषा इसप्रकार लिखते हैं – **''परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्** – परस्पर मिली हुई वस्तुओं में जिसके द्वारा अन्यता/पृथक्ता देखी जाती है, वह लक्षण है।''

लक्ष्य – जिसका लक्षण बनाया जा रहा है, जिसकी पहिचान की जा रही है, वह लक्ष्य कहलाता है।

जैसे संख्या की अपेक्षा अनंतानंत और जाति की अपेक्षा छह द्रव्यों के साथ रहनेवाले अपने जीव को यदि हम पहिचानना चाहते हैं तो 'उपयोग/जानना-देखना' लक्षण से पहिचानते हैं; अर्थात् जो उपयोगस्वभावी है, उसे जीव कहते हैं। इसमें उपयोग लक्षण है और जीव लक्ष्य है।

निष्कर्ष यह है कि पहिचानने के कार्य में हम जिसकी पहिचान कर रहे हैं, वह लक्ष्य तथा जिससे पहिचान कर रहे हैं, वह लक्षण कहलाता है।

यद्यपि अन्यत्र लक्ष्य शब्द का उद्देश्य, एकाग्रता, ध्यान का ध्येय, केन्द्रबिन्दु इत्यादि अर्थों में भी प्रयोग किया गया है; परंतु उन्हें यहाँ नहीं लेना। अनेकार्थवाची शब्दों का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही किया जाना उचित है।

अलक्ष्य – लक्ष्य से भिन्न सभी पदार्थ उस समय अलक्ष्य कहलाते हैं। जिसकी हम पहिचान करना चाह रहे हैं, उसे छोड़कर शेष सभी पदार्थ अलक्ष्य हैं। वास्तव में लक्ष्य और अलक्ष्य किसी वस्तु के नाम नहीं हैं; वरन् लक्षण की अपेक्षा उसके आरोपित नाम हैं; अतः प्रयोजनवश पदार्थ लक्ष्य या अलक्ष्य कहलाते रहते हैं।

प्रश्न 3: लक्षण तथा लक्षण के लक्षण को जानना क्यों आवश्यक है ?

उत्तरः अनंतवैभव सम्पन्न प्रत्येक वस्तु में कुछ ऐसी शक्तिआँ हैं, जो सभी में साधारण/समान हैं तथा कुछ ऐसी शक्तिआँ हैं, जो अन्य से असाधारण हैं/ सभी में नहीं हैं। इन साधारण और असाधारण शक्ति संपन्न प्रत्येक वस्तु को अनंतानंत वस्तुओं के साथ इस असंख्य प्रदेशी लोक में ही रहने की व्यवस्था होने से एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहना होता है। ऐसी स्थिति में लक्षण के बिना किसी वस्तु को जानना-पहिचानना संभव नहीं है। जानकारी के बिना सत्य-असत्य का निर्णय करना संभव नहीं है। वस्तु-स्वरूप का सही निर्णय किए बिना उसका विवेचन संभव नहीं है; यदि किया गया तो जो कुछ भी कहा जाएगा, वह गलत होगा; अतः प्रत्येक वस्तु को गहराई से जानने के पहिले उसका लक्षण जानना अति आवश्यक है।

यदि हम लक्षण का लक्षण/पहिचान/परिभाषा नहीं जानते होंगे तो हमने किसी वस्तु को पहिचानने के लिए उसका जो लक्षण बनाया है, वह सही है कि गलत – इसका निर्णय कैसे करेंगे? गलत लक्षण से वस्तु की पहिचान करने के प्रयास में यथार्थ पहिचान नहीं हो पाने के कारण हम अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकेंगे; अतः लक्षण के माध्यम से वस्तु की पहिचान करने के पूर्व लक्षण का लक्षण जान लेना अति आवश्यक है।

इसप्रकार लक्षण के बिना वस्तु की तथा लक्षण के लक्षण बिना लक्षण की यथार्थ जानकारी करना असंभव होने से लक्षण तथा लक्षण के लक्षण को जानना अति आवश्यक है।

उत्तर 4: लक्षण के भेद बताइए।

उत्तरः लक्ष्य के साथ अपृथक्/तादात्म्य/तन्मय और पृथक्/अतादात्म्य/अतन्मय की अपेक्षा लक्षण के दो भेद हैं – आत्मभूत और अनात्मभूत।

1. आत्मभूतलक्षण – आत्म=अपना, भूत=होना; अर्थात् जो लक्षण लक्ष्यभूत वस्तु का स्वयं/अपना होता है, वस्तु के साथ एकमेक होकर तादात्म्यरूप से रहता है, वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ, सदा रहनेवाला/त्रैकालिक होता है, वह आत्मभूतलक्षण है। जैसे अग्नि का लक्षण उष्णता, नमक का लक्षण खारापन, पुद्गल का लक्षण वर्णादि, जीव का लक्षण ज्ञानादि इत्यादि।

इस लक्षण को वस्तु से कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता है। वह वस्तु जहाँ, जैसी, जितने में रहेगी; उसका यह लक्षण भी वहीं, वैसा ही, उतने में ही रहेगा।

न्यायदीपिका में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतम् – जो वस्तु के स्वरूप में अनुप्रविष्ट/घुला-मिला/एकमेक है, वह आत्मभूत लक्षण है।"

यह वस्तु का वास्तविक स्वरूप होने से यथार्थ/भूतार्थ लक्षण है। त्रिकाल वस्तु की पहिचान इससे ही होती है। त्रैकालिक, पर से पूर्ण निरपेक्ष, असंयोगी वस्तु का निर्णय इसी लक्षण से होता है। असंयोगी आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान भी इसी लक्षण से होता है।

2. अनात्मभूतलक्षण – अन्=नहीं, आत्म=अपना, भूत=होना; अर्थात् जो लक्षण लक्ष्यभूत वस्तु का स्वयं/अपना नहीं होता है, वस्तु के साथ एकमेक होकर तादात्म्यरूप से नहीं रहता है; वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ, सदा रहनेवाला, त्रैकालिक नहीं होता है, वह अनात्मभूतलक्षण है। जैसे – किसी व्यक्ति का लक्षण दंड (डंडा) वाला, चश्मावाला बनाना इत्यादि। यह दंड या चश्मा उस समय समूह में से किसी विशिष्ट व्यक्ति को पृथक् करने का कारण होने से लक्षण है; तथापि वह त्रैकालिक नहीं है; क्योंकि वे, व्यक्ति से पृथक् होने के कारण, व्यक्ति उनसे सहित सदा नहीं पाया जा सकता है। इसप्रकार यह लक्षण मात्र उस समय, वैसी परिस्थिति में ही किसी की पहिचान का चिन्ह बन सकता है; सदा और सर्वत्र नहीं। यह लक्षण वस्तु के साथ एकमेक नहीं होने से, उससे पृथक् होने पर लक्षण नहीं कहलाता है। न्यायदीपिका में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"तद्विपरीतं यद्वस्तुस्वरूपाननुप्रविष्टं तदनात्मभूतम् – उस (आत्मभूत)से विपरीत जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में अननुप्रविष्ट है/घुलामिला/एकरूप नहीं है, वह अनात्मभूतलक्षण है।"

यह लक्षण लक्ष्यभूत वस्तु से पृथक् होने के कारण असंयोगी वस्तु का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है; मात्र तात्कालिक संयोगी वस्तु का ज्ञान कराता है; इसप्रकार यह लक्षण समय, परिस्थिति आदि की अपेक्षा रखता है।

इसप्रकार लक्षण के आत्मभूत और अनात्मभूत – ये दो भेद होते हैं।

प्रश्न 5: आत्मभूत और अनात्मभूत लक्षण का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः यद्यपि ये दोनों लक्षण के ही भेद हैं; तथापि इन दोनों में पारस्परिक अन्तर है। जो इसप्रकार है –

आत्मभूत लक्षण	अनात्मभूत लक्षण
1. यह वस्तु के साथ एकमेक होता है।	यह वस्तु के साथ एकमेक नहीं होता है।
2. यह वस्तु का वास्तविक स्वरूप होने से यथार्थ लक्षण है।	यह संयोग की अपेक्षा वस्तु का ज्ञान करानेवाला होने से तथा संयोग औपचारिक होने से यह औपचारिक लक्षण है।
3. यह त्रैकालिक लक्षण है।	यह तात्कालिक लक्षण है।
4. यह सर्वत्र पाया जाता है।	यह सर्वत्र नहीं पाया जाता है।
5. त्रैकालिक असंयोगी वस्तु का ज्ञान मात्र इसी लक्षण से होता है।	त्रैकालिक असंयोगी वस्तु का ज्ञान इस लक्षण द्वारा होना कभी भी सम्भव नहीं है।
6. वस्तु-स्वरूप का यथार्थ निर्णय इससे ही होता है।	इससे वैसा निर्णय नहीं हो सकता है।
7. मोक्षमार्ग का मूलाधार स्व-पर भेदविज्ञान इसी से होता है।	इसके बल पर वास्तविक भेदविज्ञान नहीं हो पाता है।
8. इस लक्षण को यथार्थ नहीं समझने पर इसमें लक्षणाभासरूप अव्याप्ति आदि दोष आ जाते हैं।	प्रायः इस लक्षण में वे दोष नहीं गिने जाते हैं।
9. इस लक्षण से ही वस्तु की परीक्षा की जाती है।	इससे वस्तु की परीक्षा नहीं की जाती है।

इत्यादि अनेकों प्रकार से इन दोनों लक्षणों में अन्तर है।

प्रश्न 6: लक्षणाभास और उसके भेदों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः जो लक्षण यथार्थ लक्षण नहीं होने पर भी लक्षण के समान प्रतिभासित होता है, उसे लक्षणाभास कहते हैं। **''लक्षणस्वरूपरहितः लक्षणवदवभासमानः लक्षणाभासः –** लक्षण के स्वरूप से रहित, लक्षण के समान प्रतिभासित होनेवाला लक्षणाभास है।'' लक्षण+आभास=लक्षणाभास।

तात्पर्य यह है कि सदोष लक्षण लक्षणाभास है। इसके तीन भेद हैं – अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव।

अव्याप्ति – जो लक्षण लक्ष्य के एकदेश में रहता है, वह लक्षण का अव्याप्ति नामक दोष अर्थात् अव्याप्ति लक्षणाभास है। न्यायदीपिका में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तं, यथा गोःशावलेयत्वम् – लक्ष्य के एकदेश में लक्षण का रहना अव्याप्त है; जैसे गाय का शावलेयत्व/चितकबरापना।'' यद्यपि गाय का रंग चितकबरा होता है; तथापि सभी गायों का रंग चितकबरा नहीं होने से यह लक्षण अव्याप्त दोषवाला है।

अ=नहीं, व्याप्त=फैलना/पसरना। जिसका लक्षण बनाया जा रहा है, उस सम्पूर्ण लक्ष्यभूत पदार्थ में जो लक्षण नहीं रहता है, उसके कुछ ही अंशों में रहता है, वह अव्याप्ति लक्षणाभास है। 'कुछ हीं अंशों में' से तात्पर्य यह है कि जिसका लक्षण किया जा रहा है, उसके सम्पूर्ण द्रव्य में, सम्पूर्ण क्षेत्र में, सभी कालों में और समस्त भावों में नहीं रहकर उसके कुछ ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में रहना। जैसे गाय का लक्षण चितकबरापना, गाय रूपी सभी द्रव्यों में नहीं पाया जाता है; जीव का लक्षण संसारी, सभी जीवों में नहीं पाया जाता; जीव का लक्षण केवलज्ञान, मतिज्ञान, भव्यत्व, मनुष्य आदि सभी जीवों में नहीं होने के कारण अव्याप्ति लक्षणाभास है।

2. अतिव्याप्ति – जो लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में पाया जाता है, वह लक्षण का अतिव्याप्ति नामक दोष अर्थात् अतिव्याप्ति लक्षणाभास है। न्यायदीपिका में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तं, यथा तस्यैव पशुत्वम् – लक्षण का लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में रहना अतिव्याप्त है; जैसे उसी गाय का लक्षण पशुपना।''

यद्यपि गाय पशु है; तथापि गाय के अतिरिक्त भेड़, बकरी, हाथी आदि भी पशु होने से इस लक्षण के अनुसार वे सभी गाय कहलाएंगे – इसप्रकार यह लक्षण अतिव्याप्त दोषवाला है। अति=अधिक/अपने से भिन्न/अन्य में, व्याप्त=फैलना/पसरना।

जिसका लक्षण बनाया जा रहा है, उस सम्पूर्ण लक्ष्यभूत पदार्थ में तो जो लक्षण रहता ही है, पर उसके साथ ही जिनका लक्षण नहीं बनाया जा रहा है उन अन्य अलक्ष्यभूत पदार्थों में भी पाया जाता है, वह अतिव्याप्ति लक्षणाभास है। जैसे गाय का लक्षण पशुपना, गाय के अतिरिक्त घोड़े आदि में भी पाया जाता है; जीव का लक्षण अमूर्तिकपना, असंख्यात प्रदेशी, अनादि-अनन्त, अनन्तगुण सम्पन्न, अरस, अरूप आदि अन्य द्रव्यों में भी पाया जाने के कारण अतिव्याप्ति लक्षणाभास है।

3. असम्भव – जो लक्षण लक्ष्यभूत वस्तु में कभी रहता ही नहीं है; वह लक्षण का असम्भव नामक दोष अर्थात् असम्भव लक्षणाभास है। न्यायदीपिका में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि यथा नरस्य विषाणत्वम् – लक्षण का लक्ष्य में रहना बाधित होना असम्भवि है; जैसे मनुष्य का लक्षण विषाणत्व/सींगपना।'' यह लक्षण मनुष्य में कभी भी नहीं पाया जाता है; अतः यह लक्षण असम्भवि दोषवाला है। अ=नहीं, सम्भवि=होना।

हमने जिसे लक्षण बनाया है, वह यदि लक्ष्यभूत पदार्थ में कभी रहता ही नहीं है, तो वह असम्भव लक्षणाभास है। जैसे मनुष्य का लक्षण सींगपना, पुद्गल का लक्षण चेतनता; जीव का लक्षण काला, गोरा, मोटा, पतला, धनी, गरीब, गतिहेतुत्व आदि उसमें कभी भी नहीं पाया जाने के कारण यह लक्षण असम्भव लक्षणाभास है।

इसप्रकार ये तीन दोष जिसमें पाए जाते हैं, वह लक्षणाभास कहलाता है।

प्रश्न 7: अव्याप्ति और अतिव्याप्ति लक्षणाभासों का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः यद्यपि ये दोनों ही दोष हैं; तथापि इन दोनों के स्वरूप में कुछ पारस्परिक अन्तर है। वह इसप्रकार है –

अव्याप्ति लक्षणाभास	अतिव्याप्ति लक्षणाभास
1. यह लक्ष्य के एकदेश में पाया जाता है।	यह लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में पाया जाता है।
2. यह एक ही जातिवाली वस्तुओं में ही पाया जाता है।	यह भिन्न जातिवाली वस्तुओं में भी पाया जाता है।
3. यह कुछ समयवाला अर्थात् अल्पकालिक भी हो सकता है।	यह त्रैकालिक भी हो सकता है।
4. यह एक ही द्रव्य की कुछ दशाओं को लक्षण बनाने पर भी हो सकता है।	यह भिन्न-भिन्न द्रव्यों की दशाओं आदि को लक्षण बनाने पर भी हो सकता है।
5. इससे आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप संबंधी विपरीत मान्यता, इन्हें अपना माननेरूप अथवा इनसे ही अपनी पहिचान करनेरूप मिथ्या मान्यता पुष्ट होती है।	इससे मुख्यतया जीव-अजीव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता पुष्ट होती है।
6. इसे यथार्थ लक्षण मान लेने पर अपनी पर्यायों के साथ एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि रूप विपरीत बुद्धिआँ पुष्ट होती हैं।	इसे यथार्थ लक्षण मान लेने पर परपदार्थों के साथ एकत्व आदि विपरीत बुद्धिआँ पुष्ट होती हैं।
7. इस दोष से बचने के लिए मुख्यतया विविध पर्यायों का यथार्थ स्वरूप जानना अत्यावश्यक है।	इस दोष से बचने के लिए मुख्यतया द्रव्यों का जाति अपेक्षा से पृथक्-पृथक् स्वभाव जानना अत्यावश्यक है।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन दोनों लक्षणाभासों में अन्तर है।

प्रश्न 8: जो अमूर्तिक हो, उसे जीव कहते हैं – इस कथन की परीक्षा कीजिए।

उत्तर: प्रस्तुत वाक्य में अमूर्तिक लक्षण है और जीव लक्ष्य है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि मय पदार्थ को मूर्तिक कहते हैं तथा स्पर्श आदि से रहित पदार्थ

अमूर्तिक कहलाता है। जीव में स्पर्श आदि नहीं होने से वह अमूर्तिक है। उसमें अमूर्तिकपना स्वभाव से ही सदा विद्यमान है; अतः यह लक्षण असम्भव दोष से दूषित नहीं है।

अमूर्तिकपना सभी जीवों का सामान्य गुण है। वह संसारी, सिद्ध, सूक्ष्म, बादर आदि सभी जीवों में पाया जाता है; अर्थात् यह लक्षण लक्ष्यभूत सभी जीवों में विद्यमान है, इसलिए अव्याप्ति दोष से भी दूषित नहीं है।

परंतु अमूर्तिकपना पुद्गल को छोड़कर शेष सभी द्रव्यों का सामान्यगुण होने से वह जीव के साथ ही धर्म, अधर्म, आकाश, काल – इन चार द्रव्यों में भी पाया जाता है। इसप्रकार यह लक्षण लक्ष्यभूत जीव में तथा अलक्ष्यभूत धर्म आदि द्रव्यों में भी विद्यमान है; अतः अतिव्याप्ति दोष से दूषित है।

इसप्रकार जो अमूर्तिक हो, उसे जीव कहते हैं – इस कथन में असम्भव और अव्याप्ति दोष नहीं होने पर भी अतिव्याप्ति दोष विद्यमान होने से, अमूर्तिक लक्षण लक्षणाभास है/सदोष लक्षण है, यथार्थ लक्षण नहीं है। इस लक्षण के द्वारा सभी द्रव्यों से जीव को पृथक् नहीं कर सकते हैं। इस लक्षण से जीव की पहिचान करने पर पुद्गल तो जीव नहीं कहलाएगा; परंतु धर्म आदि चार द्रव्यों को जीव कहना पड़ेगा, जो कि यथार्थ नहीं है; अतः यह लक्षण नहीं, लक्षणाभास है। उपयोग ही जीव का निर्दोष लक्षण है।

प्रश्न 9: गाय को पशु कहते हैं तथा पशु को गाय कहते हैं – इन दो कथनों की परीक्षा कीजिए।

उत्तरः गाय को पशु कहते हैं – इस कथन में गाय लक्षण और पशु लक्ष्य है। गाय रूप लक्षण पशु रूप लक्ष्य में रहता है, इसलिए असम्भव दोष इसमें नहीं है। गायरूप लक्षण पशुरूप लक्ष्य में ही रहता है, मनुष्य आदि रूप अलक्ष्य में नहीं रहता है; अतः यह अतिव्याप्ति दोषवाला भी नहीं है; परंतु गायरूप लक्षण पशुरूप सम्पूर्ण लक्ष्य में नहीं रहता है; हाथी, घोड़े आदि पशु हैं, पर वे गाय नहीं हैं। यह लक्षण मात्र गायरूप पशु में ही रहता है। इसप्रकार इसकी लक्ष्य के एकदेश में वृत्ति होने से यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है अर्थात् पशु का लक्षण गाय बनाना, अव्याप्त लक्षणाभास है, वास्तविक लक्षण नहीं है।

पशु को गाय कहते हैं – इस कथन में पशु लक्षण है और गाय लक्ष्य है। पशु

लक्षण गाय में पाया जाता है, इसलिए इसमें असम्भव दोष नहीं है; लक्ष्यरूप सभी गायों में पाया जाता है, इसलिए अव्याप्ति दोष से दूषित भी नहीं है; परंतु गाय रूप लक्ष्य के अतिरिक्त अलक्ष्यरूप हाथी, घोड़े आदि में भी पाया जाता है; अतः अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। इसप्रकार गाय का लक्षण पशु बनाना, अतिव्याप्त लक्षणाभास है, वास्तविक लक्षण नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि पशु का लक्षण गाय अव्याप्ति तथा गाय का लक्षण पशु अतिव्याप्ति दोष से दूषित होने के कारण लक्षणाभास हैं।

प्रश्न 10: जो खट्टा हो, उसे नीबू कहते हैं – इस कथन की परीक्षा कीजिए।

उत्तर 10: प्रस्तुत कथन में खट्टा लक्षण है और नींबू लक्ष्य है। खट्टारूप लक्षण नींबू रूप लक्ष्य में पाया जाता है, इसलिए असम्भव दोषवाला नहीं है; नींबू रूप सम्पूर्ण लक्ष्य में पाया जाता है, इसलिए अव्याप्ति दोषवाला भी नहीं है; परन्तु नींबूरूप लक्ष्य के साथ ही इमली आदि अलक्ष्य में भी पाया जाता है, इसलिए अतिव्याप्ति दोषवाला है।

इसप्रकार नींबू का लक्षण खट्टापन अतिव्याप्ति दोष से दूषित होने के कारण लक्षणाभास है।

प्रश्न 11: जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हो, उसे पुद्गल कहते हैं – इस कथन की परीक्षा कीजिए।

उत्तर : प्रस्तुत कथन में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण लक्षण है और पुद्गल लक्ष्य है। यह लक्षण पुद्गल में सदा पाया जाता है, इसलिए असम्भव दोषवाला नहीं है; समस्त पुद्गलों में पाया जाता है, इसलिए अव्याप्ति दोषवाला भी नहीं है तथा पुद्गल के अतिरिक्त अन्य किसी में भी नहीं पाया जाता है, इसलिए अतिव्याप्ति दोषवाला भी नहीं है।

इसप्रकार पुद्गल का लक्षण स्पर्श आदि – यह तीनों दोषों से रहित होने के कारण यथार्थ लक्षण है।

प्रश्न 12: इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर: वैसे तो इस प्रकरण को समझने से अनेकों लाभ हैं; पर उनमें से कुछ मुख्य निम्नलिखित हैं –

1. वस्तु का यथार्थ लक्षण नहीं समझ पाने पर उसकी यथार्थ पहिचान सम्भव नहीं है। पहिचान के बिना परीक्षा करना सम्भव नहीं हो पाने से, उसका निर्णय कर पाना शक्य नहीं है। निर्णय किए बिना अपने लिए उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता ज्ञात नहीं हो पाने से उसे उपादेय या हेय कर पाना भी सम्भव नहीं है; अतः लक्षण का ज्ञान करना आवश्यक है।

2. सुखी होने के लिए देव, शास्त्र, गुरु, जीव आदि सात तत्त्व आदि प्रयोजनभूत तत्त्व का यथार्थ स्वरूप उनके लक्षण के माध्यम से ही ज्ञात होता है; अतः लक्षण जानना अति आवश्यक है।

3. अपना यथार्थ लक्षण ज्ञात नहीं होने से हम स्वयं को अनादि से काले, गोरे, मोटे, पतले, तिर्यंच, मनुष्य आदि शरीररूप या धन, कुटुम्ब आदि रूप मानते आ रहे हैं। इस विपरीत मान्यता के कारण चार गति, चौरासी लाख योनिओं में परिभ्रमण करते हुए अनन्त दुःख भोग रहे हैं। लक्षण और लक्षणाभास का यह प्रकरण समझ में आ जाने से यह ज्ञात होता है कि स्वयं को इन रूप मानना तो असंभव लक्षणाभास है; मैं कभी भी इन रूप हुआ नहीं, हूँ नहीं और हो भी नहीं सकूँगा – इस समझ के बल पर इन्हें अपना मानना छोड़कर, जब हम अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर उसमें लीन होते हैं, तो मिथ्यात्व नष्ट होकर जीवन सम्यक्रत्नत्रय सम्पन्न, अतीन्द्रिय आनन्दमय हो जाता है।

4. वास्तव में कोई भी पर्याय अनादि-अनन्त नहीं होने से पर्याय को अपना लक्षण बनाना/पर्याय से अपनी पहिचान करना, अव्याप्ति लक्षणाभास है – यह समझ में आ जाने से विकारी-अविकारी सभी प्रकार की पर्यायों का आकर्षण नष्ट हो जाता है; जिससे पर्यायदृष्टि/पर्याय मूढ़ता नष्ट होकर द्रव्यदृष्टि प्रगट होती है; जो स्वयं सुख-शान्तिमय परिणमन है।

5. इसी आधार पर अन्य को भी पर्यायरूप से देखने का भाव नष्ट हो जाता है; जिससे व्यर्थ के राग, द्वेष, मान, अपमान, विषय-भोग आदि संबंधी भाव नष्ट होकर जीवन सहज समतामय हो जाता है।

6. जो विशेषताएं अपने में तथा अन्य में समान हैं, उनसे अपनी या अन्य की पहिचान करना, अतिव्याप्ति लक्षणाभास है अर्थात् सामान्य/साधारण और

साधारण-असाधारण लक्षणों से अपनी पहिचान करना, अतिव्याप्ति लक्षणाभास है। इसके बल पर भेदविज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है – यह समझ में आ जाने पर, इन सबसे दृष्टि हटाकर जब हम अपने विशेष गुण/चेतना गुण से अपनी पहिचान करते हैं, तो भेदविज्ञान प्रगट हो जाता है। जो आत्मानुभूति और शाश्वत सुख का मूल है।

निष्कर्षरूप में यह कहा जा सकता है कि लक्षण और लक्षणाभास को जाने/पहिचाने बिना लौकिक और लोकोत्तर कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकते हैं।

लक्षण से पहिचान कर अपनी वस्तु का निर्णय कीजिए

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं॥२४॥
जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं॥२५॥
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥४९॥

जिसकी मति अज्ञान से मोहित है और जो मोह, राग, द्वेष आदि अनेक भावों से युक्त है ऐसा जीव कहता है कि यह शरीरादिक बद्ध तथा धनधान्यादिक अबद्ध पुद्गलद्रव्य मेरा है।

आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो सदा उपयोगलक्षणवाला जीव है वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है, जिससे कि तुम कहते हो कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ?

यदि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य हो जाय और पुद्गलद्रव्य जीवत्व को प्राप्त करे तो तुम कह सकते हो कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है (किन्तु ऐसा तो नहीं होता)।

हे भव्य ! तू जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा, चेतना जिसका लक्षण है ऐसा, शब्दरहित, किसी चिन्ह से ग्रहण न होनेवाला और जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता ऐसा, जान!!

– समयसार गाथा २३, २४, २५, ४९

पाठ 4

पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं

प्रश्न 1: कविवर पण्डित बनारसीदासजी का व्यक्तित्व और कर्तृत्व लिखिए।

उत्तरः कविवर पण्डित बनारसीदासजी अध्यात्म और काव्य दोनों ही क्षेत्रों में सर्वोच्च प्रतिष्ठा-प्राप्त रस सिद्ध कवि और आध्यात्मिक विद्वान हैं। आप महाकवि तुलसीदासजी के समकालीन, सत्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्धतम विद्वानों में से एक हैं।

आपका जन्म श्रीमालवंश में लाला खरगसेन के घर विक्रम सम्वत् 1643 की माघ शुक्ल एकादशी, रविवार को जौनपुर नगर में हुआ था। जन्म के समय आपका नाम विक्रमाजीत रखा गया था; बाद में बनारस यात्रा के समय पार्श्वनाथ भगवान की जन्मभूमि वाराणसी के नाम पर आपका नाम बनारसीदास हो गया। आप अपने माता-पिता के इकलौते सुपुत्र थे।

आपने-अपने जीवन में अत्यधिक उतार-चढ़ाव देखे हैं। आपका जीवन आर्थिक विषमताओं से तो परिपूर्ण है ही, पारिवारिक विषमताओं से भी सम्पन्न है। आपके तीन विवाह हुए; सात पुत्र और दो पुत्रिआँ – इसप्रकार नौ संतानें हुईं; परंतु एक भी आपके सामने ही जीवित नहीं रहीं। इस घटना को आपने अपने अर्धकथानक नामक आत्मचरित में इसप्रकार लिखा है –

कही पचावन बरस लौं, बानारसि की बात।
तीनि विवाहीं भारजा, सुता दोइ सुत सात।।
नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोइ।
ज्यों तरुवर पतझार ह्वै, रहे ठूँठ से होई।।

ऐसी विषम परिस्थिति में भी वस्तु-स्वरूप के चिंतन-मनन तथा आत्मानुभवन के बल पर आप विचलित नहीं हुए। आप अपने प्रारम्भिक जीवन में अनेकबार विविध अंधविश्वासों के भी शिकार हुए तथा आध्यात्मिक रुचि सम्पन्न होने के बाद

आपने पूरी दृढ़ता से अपने साहित्य में उन अंधविश्वासों का तीव्रतम खण्डन भी किया है। आप प्रारम्भ से ही क्रांतिकारी व्यक्तित्व के धनी थे।

विवेक जागृत होने के बाद आप उस आध्यात्मिक क्रांति के जन्मदाता हुए, जो तेरापंथ के नाम से जानी जाती है तथा जिसने जिनमार्ग पर छाए भट्टारकवाद पर दृढ़ता से प्रहार कर, उसकी जड़ें कमजोर कर दीं और जो आगे बढ़कर आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी का संस्पर्श पाकर समस्त उत्तर भारत में फैल गई। काव्य प्रतिभा आपको जन्म से ही प्राप्त थी। जीवन की किशोरावस्था में ही आप उच्चकोटि की कविता करने लगे थे; परंतु प्रारम्भ में आप शृंगारिक कविता में मग्न रहे। चौदहवें वर्ष में आपकी सर्वप्रथम कृति 'नवरस' तैयार हो गई थी। शृंगार रस की अद्‌भुत उत्कृष्ट इस कृति को आपने स्वयं ही आत्म-ज्ञान होने के बाद गोमती नदी के प्रवाह में प्रवाहित कर दिया। इसके बाद आपने पूर्णतया आध्यात्मिक साहित्य की रचना की। नाटक समयसार, बनारसी विलास, नाममाला और अर्धकथानक आपकी वर्तमान में उपलब्ध कृतिआँ हैं।

नाटक समयसार – यह एक प्रकार से अमृतचंद्राचार्य के समयसार कलशों के भावात्मक पद्यानुवांदमय कृति है; तथापि अपनी मौलिक विशेषताओं के कारण इस ग्रंथ का अध्ययन करते समय स्वतंत्र ग्रंथ के समान ही आनंद प्राप्त होता है। आध्यात्मिक रस से परिपूर्ण होने के साथ ही इस ग्रंथ में चौदह गुणस्थानों का और ग्यारह प्रतिमाओं का मार्मिक विवेचन किया गया है।

अर्धकथानक – यह हिंदी भाषा का सर्वप्रथम आत्मचरित्र है। तत्कालीन आर्थिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, परिस्थितिओं को तथा आपके पचपन वर्षीय जीवन को दर्पणवत प्रतिबिम्बित करनेवाली यह प्रौढ़तम कृति है। इस कृति का नामोल्लेख गिनीज बुक में भी है। पुण्य-पाप के उदय संबंधी सांसारिक विचित्रताओं, उनमें ज्ञानी जीवों की मनोवृत्तिओं की जानकारी के लिए तथा विविधताओं से युक्त पं. बनारसीदासजी के जीवन से परिचित होने के लिए इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

बनारसीविलास – यह ग्रंथ कवि की छोटी-बड़ी गद्य-पद्यात्मक विविध रचनाओं का संग्रह ग्रंथ है।

नाममाला – धनंजय कवि कृत नाममाला का अनुकरण करते हुए बनाया गया यह हिंदी भाषा का शब्दकोश है।

जैन अध्यात्म के क्षेत्र में तो पं. बनारसीदासजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है ही; हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी उनका योगदान असंदिग्ध है। मात्र आवश्यकता इस बात की है कि धार्मिक पक्षपात से रहित होकर विचार, भाव, भाषा, साहित्यिक उपादान आदि दृष्टिओं से इनके साहित्य का गम्भीरतम अध्ययन किया जाए।

इसप्रकार पं. बनारसीदासजी अपने आत्मसाधना और काव्यसाधना – दोनों ही क्षेत्रों के अनुपम व्यक्ति रहे हैं।

प्रश्न 2: पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक की सामान्य दशा का वर्णन कीजिए।

उत्तरः जाति की अपेक्षा षट् द्रव्यमयी और संख्या की अपेक्षा अनन्तानन्त द्रव्यमयी इस लोक में प्रत्येक द्रव्य स्वभाव से ही अपने से पूर्णतया अभिन्न और पर से पूर्णतया भिन्न एकत्व-विभक्त स्वभावी है। प्रत्येक द्रव्य अनंत शक्तिओं का संग्रहालय, अनंत गुणों का गोदाम, अनंत स्वभावों का सागर, अनंत वैभव सम्पन्न होने से अपनी सीमा में रहता हुआ, पर से पूर्ण निरपेक्ष रह, सुव्यवस्थित रूप में सतत अपना कार्य करता रहता है। यद्यपि जीव द्रव्य का भी ऐसा ही स्वभाव है। यह भी पर से पूर्ण निरपेक्ष रहकर ही अपना कार्य कर रहा है तथा स्व-पर प्रकाशक ज्ञान शक्ति से सम्पन्न होने के कारण तात्कालिक योग्यतानुसार स्व-पर पदार्थों को जानता भी है; तथापि अनादि से ही अपने स्वभाव को भूला हुआ होने से इसे अपने ज्ञान में जो भी पदार्थ ज्ञात होता है; यह उसे अपना मानकर, जानकर, उसमें राग-द्वेष करने लगता है। यह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप प्रवर्तन ही इसके अनन्त दुःखों का एकमात्र कारण है।

भव्यता का परिपाक होने पर विशिष्ट क्षयोपशम तथा विशुद्धि लब्धि सम्पन्न सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक, जागृत, ज्ञानोपयोगी जीव सद्देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से देशना/सदुपदेश प्राप्तकर, प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों, स्व-पर पदार्थों, हितकारी-अहितकारी भावों का यथार्थ निर्णयकर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा अपने में अपनत्व लाने रूप पुरुषार्थमय प्रायोग्य लब्धि को पार करता हुआ, उत्तरोत्तर शनैः-शनैः विकल्पों के शमन रूप करणलब्धि के अंतिम समय बाद क्षण भर के लिए निर्विकल्प हो स्वरूपलीन हो जाता है; अपने अनंत दुःखों को समाप्त कर आत्म-संतुष्टिरूप आत्मानुभव जन्य अतीन्द्रिय आनन्द का पान करता है। यह अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से माननेरूप सम्यग्दर्शन, अपनत्वरूप से जाननेरूप

सम्यग्ज्ञान और उसमें ही लीनतारूप सम्यक्चारित्रमय सम्यक् रत्नत्रय ही दुःखों से छूटने का उपाय होने से मोक्षमार्ग है। आचार्य उमास्वामी देव ने मोक्षशास्त्र के प्रथम सूत्र में लिखा भी है – **"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है।"

यह जीव सम्यक् रत्नत्रय सम्पन्न होने पर भी विशेष स्वरूपलीनता का अभाव होने से अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानवर्ती कहलाता है। कर्मों की अपेक्षा इसे इसप्रकार समझ सकते हैं – दर्शनमोहनीय एक अथवा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व – ये दो या मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति रूप दर्शनमोहनीय की तीन तथा अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ – इन पाँच, छह या सात प्रकृतिओं का कथंचित् अभाव हो जाने से जिस जीव को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्त्वाचरणरूप सम्यक्चारित्र तो प्रगट हुआ है; परन्तु अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ का उदय होने से संयमाचरण चारित्र प्रगट नहीं हुआ है; वह जीव अविरत/असंयत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

कविवर पं. बनारसीदासजी इसे निम्नलिखित शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं –

"सत्य प्रतीति अवस्था जाकी, दिन-दिन रीति गहै समता की।
छिन-छिन करै सत्य को साकौ, समकित नाम कहावै ताकौ।।

(नाटक समयसार, चतुर्दशगुणस्थानाधिकार, छंद 27)

जिसकी प्रतीति में आत्मा का सत्य स्वरूप आ गया है, प्रतिदिन समता की पद्धति को ग्रहण करता है/उत्तरोत्तर समताभाव को बढ़ाता जाता है, प्रतिक्षण सत्य का पक्ष लेता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि जीव है।"

इस आत्मानुभवी जीव का आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ मंद होने के कारण सतत प्रयत्नशील रहने पर भी दीर्घ अंतराल के बाद ही अत्यल्प समय के लिए यह स्वरूपलीन हो पाता है; अतः इसके अव्रत रूप परिणाम बने रहते हैं। बुद्धिपूर्वक हिंसादि पापों का तथा विषय-भोगों का प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग यह नहीं कर पाता है।

आत्मोन्मुखी विशिष्ट पुरुषार्थ द्वारा जब यह जीव आत्मस्वरूप में विशेष स्थिर हो जाता है, तब उपर्युक्त पाँच, छह या सात प्रकृतिओं के साथ ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ के उदय का भी इसके अभाव हो जाने से आत्मा का निर्विकल्प अनुभव कुछ शीघ्र-शीघ्र होने लगता है तथा स्वरूप-स्थिरता का समय भी बढ़ जाता

है। परिणति में विशेष वीतरागता प्रगट हो जाती है; जिससे इस साधक जीव के संसार, शरीर और पंचेन्द्रिय विषय-भोगों के प्रति आसक्ति सहज ही हीन हो जाने के कारण, उनके प्रति सहज उदासीनता व्यक्त हो जाती है। अब इसे इस भूमिका के अयोग्य तीव्र विषय-कषायरूप अशुभभाव उत्पन्न नहीं होते हैं तथा नियम-बद्ध होने, प्रतिज्ञा लेने के भाव जागृत हो जाते हैं। उसका बाह्य आचरण भी सहज ही तदनुकूल व्रतादिरूप हो जाता है। इसी अवस्था को पंचम गुणस्थानवर्ती एकदेश संयमी/व्रती श्रावक कहते हैं।

इस जीव के दर्शनमोहनीय, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि कषायों के उदय का अभाव हो जाने पर भी प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी क्रोधादि कषायों का उदय विद्यमान है; जिससे भूमिकानुसार वीतरागता के साथ ही शुभाशुभभाव और तदनुकूल शुभाशुभ क्रियाएं भी होती रहती हैं। इन सभी के असंख्यात लोक प्रमाण भेद होने पर भी संक्षेप में बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओं के रूप में इन्हें विभक्त किया जाता है। उत्तरोत्तर कषायों के अभावानुसार प्रतिमाएं बढ़ती जाती हैं। इस सम्पूर्ण दशा को देशसंयम, देशचारित्र, संयमासंयम, विरताविरत आदि नामों से भी जाना जाता है। इसप्रकार पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक की सामान्य दशा शुद्धि और अशुद्धि के, वीतराग और राग के, त्याग और भोग के मिश्रणरूप है।

प्रश्न 3: प्रतिमा का समग्र स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके भेद लिखिए।

उत्तरः सैनी पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, भव्य, कर्मभूमि मनुष्य या तिर्यंच क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि पूर्वक आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा दर्शनमोहनीय, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि विकारों के अभावरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप एकदेश वीतरागता प्रगट कर लेता है तथा प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी विकारों से सहित रहता है; इस अविकार और विकाररूप मिश्रदशा को ही पंचमगुणस्थानवर्ती देशसंयम कहते हैं।

इस मिश्रदशा में से दर्शनमोह, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण के अनुदय में व्यक्त हुई शुद्ध परिणति/वीतरागता वास्तव में सुखमय तथा सुख की कारण होने से यथार्थ धर्म है, इसे नयों की भाषा में निश्चय धर्म भी कहते हैं। यह

साधकदशा संबंधी वास्तविक मोक्षमार्ग है। शेष प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन आदि के उदय में विद्यमान बारह व्रत आदि के परिणाम, भूमिकानुसार प्रतिमा पालन के भाव यद्यपि विकाररूप होने से धर्म नहीं हैं और तदनुकूल शरीर आदि बाह्य संयोगों की परिणति पूर्णतया जड़मय होने से धर्म नहीं है; तथापि व्यक्त वीतरागता के सहचारी और निमित्त होने से कदाचित् निमित्त-नैमित्तिक संबंध की मुख्यता से, व्यवहार नय की अपेक्षा इन्हें भी उपचार से धर्म कह देते हैं। यह क्रमशः साधकदशा संबंधी बंधमार्ग तथा बंध-मोक्ष से निरपेक्ष शरीरादि की क्रिया है। इन तीनों का एक नाम देशसंयम है।

इस देशसंयम लब्धि के असंख्यात लोक प्रमाण असंख्य प्रकार के परिणाम होते हैं। जिन्हें संक्षेप में छद्मस्थ के ज्ञानगोचर उत्तरोत्तर वृद्धिगत वीतरागता की अपेक्षा ग्यारह भागों में वर्गीकृत किया गया है। इन्हें ही ग्यारह प्रतिमाएं कहते हैं। कविवर पं. बनारसीदासजी नाटक समयसार के चतुर्दश गुणस्थानाधिकार में छंद 58 द्वारा प्रतिमा का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"संयम अंश जग्यौ जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा कौ भयो, प्रतिमा ताकौ नाम।।

जीव के जिन परिणामों में संयम का अंश जागृत हो गया है; संसार, शरीर और पंचेन्द्रिय विषय-भोगों के प्रति अरुचि/विरक्ति हो गई है; जिसके कारण अशुभ भावों से बचने के लिए प्रतिज्ञा लेने का भाव व्यक्त हो गया है, उसे प्रतिमा कहते हैं।"

हिंसा आदि पाँच पापों का तथा पंचेन्द्रिय विषय-भोगों का पूर्णतया त्याग करने में असमर्थ होने पर भी यह जीव उनमें असीम प्रवृत्ति भी नहीं करता है। पहले सम्यग्दर्शन की प्रगटता के साथ ही अन्याय, अनीति, अभक्ष्य-भक्षण, असदाचारमय सात व्यसन आदि संबंधी अति तीव्र कषाय रूप अनर्गल भोग के भाव तो नष्ट हो गए थे; परन्तु अविरत दशा होने से न्याय-नीति सम्पन्न सदाचारमय भोग-भावों में तथा भक्ष्य पदार्थों के सेवन में देश-काल आदि की अपेक्षा मर्यादा/सीमा नहीं थी। अब इसके वीतरागता विशेष बढ़ जाने के कारण न्याय-नीति परक भोग-विलास आदि को भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की अपेक्षा मर्यादित करने का भाव जागृत हुआ है, इसलिए न्यायोचित विषय-भोगों को भी प्रतिज्ञा पूर्वक छोड़ने की प्रवृत्ति देखी जाती है। यह भोजन, पान, वस्त्र, बर्तन, धन, धान्य, आसन, वाहन

आदि जीवनोपयोगी समस्त वस्तुओं संबंधी सीमा सुनिश्चित कर लेता है। भूमिकानुसार उत्तरोत्तर वीतरागता की वृद्धि के साथ ही इन्हें भी उत्तरोत्तर कम करता जाता है।

वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञाता, आत्मानुभवी होने से यद्यपि यह पूर्ण स्वतन्त्र, पर से निरपेक्ष, समग्र स्वाधीन दशा, सर्व सावद्य योगों से रहित, आरम्भ-परिग्रह विहीन, आत्मलीनतामय शुद्धोपयोगरूप मुनिदशा का ही अभिलाषी है; तथापि अपनी कमजोरी का ज्ञाता होने से उसे पाने का संक्लेशतामय आग्रह भी नहीं रखता है। भूमिकानुसार होनेवाली प्रत्येक परिस्थिति को सहज स्वीकार करता हुआ, भेदविज्ञान के बल से सतत आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ करता रहता है। इसप्रकार यह प्रतिमामय दशा ज्ञानधारा और कर्मधारा की योग्यतानुसार समन्वयात्मक दशा है।

उत्तरोत्तर वृद्धिंगत वीतरागता की अपेक्षा चरणानुयोग की शैली में इसके ग्यारह भेद किए गए हैं। जो इसप्रकार हैं – 1. दर्शनप्रतिमा, 2. व्रतप्रतिमा, 3. सामायिक प्रतिमा, 4. प्रोषधोपवास प्रतिमा, 5. सचित्तत्यागप्रतिमा, 6. दिवा मैथुन त्याग या रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा, 7. ब्रम्हचर्यप्रतिमा, 8. आरम्भ त्याग प्रतिमा, 9. परिग्रहत्याग प्रतिमा, 10. अनुमतित्याग प्रतिमा और 11. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा। इनमें से क्रमानुसार सभी आगामी प्रतिमाएं पूर्व प्रतिमाओं संबंधी विशुद्धि से सहित ही होती हैं।

इन प्रतिमाओं को जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन भागों में भी विभक्त किया गया है – पहली से छठवीं प्रतिमा पर्यंत जघन्य, सातवीं से नवमीं प्रतिमा पर्यंत मध्यम तथा दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा को उत्कृष्ट की श्रेणी में रखा गया है। पुनः ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक और ऐलक के रूप में दो भेद कर दशवीं को जघन्य, क्षुल्लक को मध्यम और ऐलक को उत्कृष्ट रूप में भी वर्गीकृत किया है।

ये सभी प्रतिमाधारी श्रावक ही कहलाते हैं, मुनि नहीं। इनके गृहवासी और गृहत्यागी ये दो भेद भी हैं। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी तो नियम से गृहत्यागी ही होते हैं; शेष में दोनों भेद सम्भव हैं।

इसप्रकार उत्तरोत्तर हीन-हीन होते हुए अशुभभाव, बढ़ते हुए शुभभाव और शुद्धभावमय मिश्र परिणति, मिश्र प्रवृत्ति प्रतिमा का समग्र स्वरूप है।

कभी-कभी कोई मिथ्यादृष्टि जीव शुद्धभावों के बिना ही मात्र कषायों की मंदता के बल पर व्रतादि ग्रहणकर स्वयं को प्रतिमाधारी मान लेते हैं। इससे उन्हें इतना लाभ तो होता है कि वे तीव्र कषाय रूप अशुभ भावमय तीव्र आकुलता से बचे रहते

हैं, नरक आदि पापबंध से भी बच जाते हैं, शारीरिक स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है, समाज में मान-प्रतिष्ठा भी मिल जाती है; परन्तु इतना सब होने पर भी शुद्धता/वीतरागता के अभाव में उन्हें निराकुल अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त नहीं होता है। वे मोक्षमार्गी नहीं हैं, संसारमार्गी ही हैं; कषाय की मंदता को ही धर्म मान लेने के कारण अगृहीत मिथ्यात्व को पुष्ट करनेवाले गृहीत मिथ्यात्वी हो जाने से सम्यक् रत्नत्रयरूप वास्तविक धर्म को प्रगट करने की अपनी पात्रता भी नष्ट कर बैठते हैं; अतः ऐसी प्रवृत्तिओं से सतत सावधान रहना चाहिए।

प्रश्न 4: दर्शनप्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः दर्शनमोह, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि के अनुदय में व्यक्त हुई वीतरागता के साथ, प्रत्याख्यानावरण आदि कषायों के उदय में होनेवाले आठ मूलगुणों के निरतिचार पालनरूप और सप्तव्यसनों के निरतिचार त्यागरूप शुभभावों और तदनुकूल शुभ क्रियाओंमय समग्रदशा को दर्शनप्रतिमा कहते हैं। कविवर पं. बनारसीदास जी वहीं, छंद 59 में इसे निम्नलिखित शब्दों द्वारा स्पष्ट करते हैं –

"आठ मूलगुण संग्रहै, कुव्यसन क्रिया न कोइ।
दर्शनगुण निर्मल करै, दर्शनप्रतिमा सोइ।।

आठ मूलगुणों का संग्रह/पालन करनेवाला, कुव्यसन क्रियाओं का त्याग करनेवाला, निर्मल दर्शन गुण से सम्पन्न जीव दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक है।"

जिनागम में श्रावक के आठ मूलगुणों का विश्लेषण देश, काल संबंधी परिवर्तित परिवेश के अनुसार अनेक प्रकार से किया गया है; जैसे पाँच उदुम्बर फलों का त्याग, मद्य-माँस-मधु रूप तीन मकार क़ा त्याग, रात्रि भोजन का त्याग, अनछने जल का त्याग, अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतों का पालन, जीवदया का पालन, देवदर्शन की प्रतिज्ञा आदि। इन सभी में नामों का भेद होने पर भी भाव एकमात्र यही है कि आठ मूलगुणधारी जीव स्थूलरूप में हिंसा आदि पाँच पापों से बचकर, अपने जीवन को देव-शास्त्र-गुरु के सान्निध्य से वीतरागतामय बनाने का प्रयास करता है। त्रस हिंसा आदि से बचने के लिए असंख्य त्रस राशि के भंडार उदुम्बरफल आदि का त्याग करता है तथा अहिंसा अणुव्रत आदि का पालन करता है। हिंसा आदि पाँच पापों से स्थूल रूप में बचने के लिए यह अतिचार सहित जुआ खेलना, माँस भक्षण, मदिरापान, वेश्यागमन, शिकार करना, चोरी करना, परस्त्री रमण करना – इन सात व्यसनों

का भी पूर्णतया त्याग कर देता है। इसकी मन, वचन, काय संबंधी समस्त प्रवृत्तिआँ व्यक्त हुई वीतरागता और शुभभाव के अनुकूल ही होती हैं।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार के श्लोक 137वें द्वारा दर्शनप्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट किया है; जिसका भाव इसप्रकार है –

''पच्चीस दोषों से रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन सम्पन्न, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त, पंच परमेष्ठी की चरण-शरण में रहनेवाला, सर्वज्ञ कथित तत्त्व-पथ को ग्रहण करनेवाला जीव दार्शनिक प्रतिमाधारी कहलाता है।''

इस प्रतिमा का पूरा नाम दार्शनिक (दर्शन संबंधी) प्रतिमा है; बोलचाल में दर्शनप्रतिमा कहने लगे हैं। यह प्रतिमा जिनेन्द्र भगवान के दर्शनमात्र से संबंधित न होकर, आत्मदर्शन पूर्वक प्रगट हुई विशिष्ट आत्म-स्थिरतामय वीतरागता से संबंधित है। इसमें व्यक्त वीतरागता वास्तविक/निश्चय दर्शनप्रतिमा है तथा निरतिचार पूर्वक आठ मूलगुणों के पालन और सात व्यसनों के त्यागमय शुभभाव एवं तदनुकूल प्रवृत्तिआँ औपचारिक/व्यवहार दर्शनप्रतिमा है।

प्रश्न 5: सम्यग्दर्शन और दर्शन प्रतिमा में क्या अन्तर है ?

उत्तरः वैसे तो ये दोनों सम्यक् रत्नत्रय के अंश होने से एक मोक्षमार्ग रूप ही हैं; तथापि इन दोनों में स्वरूपगत कुछ अंतर भी है। जो इसप्रकार है –

सम्यग्दर्शन	दर्शन प्रतिमा
1. सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण का सम्यक् परिणमन है।	दर्शनप्रतिमा चारित्र गुण का शुद्धाशुद्ध रूप मिश्र परिणमन है।
2. यह चतुर्थगुणस्थान में प्रगट हो जाने के कारण दर्शनप्रतिमा के बिना भी रहता है।	यह पंचमगुणस्थान की एक भाग होने से सम्यग्दर्शन के बिना कभी भी नहीं होती है।
3. यह चारों गतिओं में होता है।	यह मात्र कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यंच में ही होती है।
4. यह असंयम दशा में भी होता है।	यह देशसंयम दशा में ही होती है।
5. इसमें विशेष स्वरूप-स्थिरता नहीं है तथा दो स्वरूप-स्थिर दशाओं के बीच अंतराल अधिक (कुछ समय	इसमें स्वरूप-स्थिरता कुछ विशेष/अधिक है तथा दो स्वरूप-स्थिर दशाओं के बीच अंतराल कुछ कम (अधिक से अधिक

कम छह महिने) हो सकता है।	15 दिन) होता है।
6. इसमें अष्ट मूलगुण आदि का निरतिचार पालन नहीं है।	इसमें उनका निरतिचार पालन है।
7. यह जघन्य अन्तरात्मा है।	यह मध्यम अंतरात्मा की कोटी में गिनी जाती है।
8. इसमें मात्र दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी का अनुदय आदि होता है।	इसमें इनके साथ ही अप्रत्याख्यानावरण का भी अनुदय होता है।
9. इसमें 41 कर्म प्रकृतिओं की बंध-व्युच्छित्ति होती है।	इसमें 51 कर्मप्रकृतिओं की बंधव्युच्छित्ति होती है।
10. यह परम्परा अपेक्षा से सादि अनन्त है।	यह सदैव सादि-सांत ही होती है।
11. यह मनुष्य-तिर्यंच भव की गर्भावस्था में भी रह सकता है। चारों गतिओं की निर्वृत्त्यपर्याप्तक दशा में भी रह सकता है।	यह अपर्याप्तक तथा गर्भावस्था में कभी भी नहीं रहती है। कर्मभूमिज मनुष्य को गर्भकाल के आठ वर्ष बाद तथा तिर्यंच को भी जन्म के बाद योग्यतानुसार व्यक्त होती है।
12. किसी भी आयु का बन्ध हो जाने पर भी यह आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा हो सकता है।	यह देवायु को छोड़कर अन्य तीन आयु में से किसी भी आयु का बंध हो जाने पर नहीं होती है।
13. इसके बिना मोक्ष कभी भी नहीं होगा।	इसके बिना भी मोक्ष हो जाता है।
14. इसमें प्रतिज्ञापूर्वक त्यागभाव नहीं है।	इसमें प्रतिज्ञापूर्वक त्यागभाव है।
15. यह विग्रहगति में भी रह सकता है।	यह विग्रहगति में नहीं रहती है।
16. त्रेषठ शलाकापुरुष इससे सहित ही होते हैं।	वे तीव्र पुरुषार्थी होने के कारण यह उनके जीवन में नहीं आती है।
17. यह औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक – तीनों भाव रूप होता है।	यह मात्र सापेक्ष क्षायोपशमिक भावरूप ही होती है।

इत्यादि प्रकार से दोनों में अंतर है।

प्रश्न 6: व्रत प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः दर्शनमोह, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि विकारों के उदय के अभावपूर्वक प्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि विकारों के कुछ मंद उदय से व्यक्त हुई वृद्धिगत वीतरागता तथा शेष रहे क्रोधादि विकारों के सद्भाव में व्यक्त हुए बारह व्रतादि रूप शुभभाव और तदनुकूल प्रवृत्तिओं की समग्रता व्रत प्रतिमा है। पहली दर्शन प्रतिमाधारी की अपेक्षा इसके वीतरागता कुछ अधिक हो जाने से स्वरूप-स्थिरता कुछ अधिक हो गई है। तदनुरूप पर पदार्थों के प्रति विशेष उपेक्षा भाव व्यक्त हो गया है। जिससे भूमिकानुसार अशुभ में कमी और शुभ में वृद्धि भी हो गई है। इसप्रकार विशिष्ट शुद्ध-अशुद्ध रूप परिणामों का मिश्रण व्रत प्रतिमा है।

कविवर पं. बनारसीदास जी वहीं, छंद 60 द्वारा इसे इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

''पाँच अणुव्रत आदरै, तीन गुणव्रत पाल।
शिक्षाव्रत चारों धरै, यह व्रत प्रतिमा चाल।।

पाँच अणुव्रतों का आदर करनेवाला, तीन गुणव्रतों का पालन करनेवाला और चार शिक्षाव्रतों को धारण करनेवाला व्रत प्रतिमाधारी श्रावक है।''

अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रम्हचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणव्रत – ये पाँच अणुव्रत हैं। दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डविरतिव्रत अथवा दिग्व्रत, अनर्थदण्डविरतिव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत – ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण, अतिथिसंविभाग अथवा देशव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्त्य – ये चार शिक्षाव्रत हैं। अहिंसा आदि पाँच अणुव्रत मूलव्रत कहलाते हैं तथा तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत – ये सात शीलव्रत कहलाते हैं। (इन सभी का विस्तृत वर्णन 'वीतराग विज्ञान विवेचिका' में पृष्ठ 204 से 255 पर्यंत किया गया है। व्रत प्रतिमा का स्वरूप समझने के लिए पुनः उसका अध्ययन करना आवश्यक है।) मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण के अभावरूप वीतरागता से सहित इन बारह व्रतों का पालन व्रत प्रतिमा है। पहली प्रतिमा में पाँच अणुव्रतों का निरतिचार पालन नहीं था इसमें उनका निरतिचार पालन होता है।

आचार्य समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्डश्रावकाचार के श्लोक 138 में इसका नाम व्रतिक लिखते हैं। व्रती को परिभाषित करते हुए आचार्य उमास्वामी मोक्षशास्त्र सातवें अध्याय के 18वें सूत्र में लिखते हैं – **"निःशल्योव्रती –** शल्य रहित व्रती है।" माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों से रहित जीव ही व्रती है। काँटे के समान चुभन/आकुलतामय परिणाम शल्य कहलाते हैं। व्रती कभी भी मायाचारी/प्रदर्शन/दिखावे के माध्यम से स्व या पर को ठगने का प्रयास नहीं करता है; आत्मकल्याणकारी कार्यों में अपनी शक्ति को नहीं छिपाता है; धर्म प्रभावना आदि के कार्यों में धन, समय, शक्ति आदि को नहीं छिपाता है – इत्यादि प्रकार के परिणाम माया शल्य से रहित परिणाम हैं।

मिथ्यात्व का अभाव हो जाने से इस व्रती के किसी भी रूप में मिथ्या प्रवृत्तिओं, मिथ्या मान्यताओं, मिथ्या आचरणों, मिथ्या क्रियाओं का पोषण नहीं होता है। अपनी किसी कमजोरी वश कोई विशिष्ट प्रकार का आचरण आदि नहीं कर पाने पर यह जीव पूर्णतया निःशल्यभाव से ईमानदारी पूर्वक यह स्वीकार करता है कि मैं भले ही ऐसा नहीं कर पा रहा हूँ; तथापि करना तो ऐसा ही चाहिए – इत्यादि प्रकार की पवित्र परिणति को मिथ्याशल्य का अभाव कहते हैं।

आत्मवैभव में संतुष्ट यह व्रती श्रावक अपनी साधना के फल में कभी भी इस लोक-परलोक संबंधी पंचेन्द्रिय विषय-भोग सामग्री की इच्छा नहीं करता है; स्वाधीन आत्मिक अतीन्द्रिय आनन्द के सामने इसे कोई भी लौकिक सामग्री, पद, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान आदि महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता है; इसके मन में उनके प्रति सहज उदासीनता बनी रहती है; यही कारण है कि लोक संबंधी महान से महान उपलब्धि भी इसे मुग्ध/आकर्षित नहीं कर पाती है; यह उसकी इच्छा नहीं करता है – इत्यादि प्रकार के परिणाम निदान शल्य से रहित परिणाम हैं।

इसप्रकार यह व्रत प्रतिमाधारी श्रावक विशिष्ट वीतरागता सम्पन्न, बारह व्रतों से सहित और तीन शल्यों से रहित होता है। इनमें से विशिष्ट वीतरागता वास्तविक धर्म होने से निश्चय व्रत प्रतिमा है तथा बारहव्रत सहित, तीन शल्य रहित शुभभाव और तदनुकूल शुभ प्रवृत्तिआँ वास्तविक धर्म नहीं होने पर भी उसकी निमित्त और सहचारी होने के कारण उपचार से व्यवहार व्रत प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न 7: सामायिक प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः दर्शनमोह, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी विकारों के अभाव में तथा प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकारों की मंदता में प्रगट हुई शुद्ध परिणति को अधिकाधिक बढ़ाने के लिए यह सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक चौबीस घंटों में तीन बार कम से कम एक-एक अंतर्मुहूर्त के लिए बुद्धिपूर्वक सम्पूर्ण सावद्य योगों का त्यागकर, स्वरूप-स्थिरता का प्रयास करता हुआ; प्राणीमात्र के प्रति, समस्त परिस्थितिओं, संयोगों के प्रति समताभाव रखने का अभ्यास करता है। विशिष्ट वीतरागता के बल पर इस अभ्यास में सफलतापरक दशा ही श्रावक की तीसरी सामायिक प्रतिमा है।

कविवर पं. बनारसीदासजी वहीं, छंद 61-62 द्वारा इसका स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"द्रव्य भाव विधि संजुगत, हिये प्रतिज्ञा टेक।
तजि ममता समता गहै, अंतरमुहुरत एक।।
जो अरि मित्र समान विचारैं, आरत रौद्र कुध्यान निवारै।
संयम सहित भावना भावै, सो सामायिक वंत कहावै।।

द्रव्य और भाव विधिपूर्वक, हृदय में प्रतिज्ञा धारण कर, एक अंतर्मुहूर्त पर्यंत जो ममत्व छोड़कर समताभाव धारण करता है, शत्रु-मित्र आदि सभी को एक समान जानता हुआ आर्त-रौद्र रूप कुध्यानों का निवारण करता है, संयमपूर्वक स्वरूपलीनता की भावना भाता है/तद्रूप परिणमित होने का प्रयास करता है; वह सामायिक प्रतिमाधारी कहलाता है।"

सामायिक की द्रव्य और भाव विधि का निरूपण करते हुए आचार्य समंतभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार के 139वें श्लोक में लिखते हैं –

"चतुरावर्तत्रितयश्चतुप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी।।

जो चार दिशाओं में तीन-तीन आवर्त करता है, चार दिशाओं में चार प्रणाम करता है, अंतरंग-बहिरंग परिग्रह की चिंता से मुक्त हो कायोत्सर्ग में स्थित रहता है, खडगासन या पद्मासन में से कोई एक आसन लगाकर मन-वचन-काय – इन तीन योगों को शुद्धकर, तीन सन्ध्याओं (पूर्वान्ह, मध्यान्ह, अपरान्ह) में वन्दना करता है, वह सामयिक प्रतिमाधारी श्रावक है"।

सामायिक कहाँ करें ? कैसे करें ? सामायिक में क्या करें ? उससे लांभ क्या है ? इत्यादि विंदुओं पर आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में 97 से 104 पर्यंत 8 श्लोकों द्वारा विस्तृत मीमांसा की है। अन्यत्र अन्यान्य ग्रंथों में भी इनका विस्तार से वर्णन किया गया है; जिसका संक्षिप्त सार इसप्रकार है –

द्रव्य सामायिक की विधि – सामायिक करने का इच्छुक जीव अपने शरीर की यथायोग्य शुद्धि कर; जीव-जन्तु रहित, कोलाहल रहित, निरापद सामायिक के योग्य स्थान को देखकर, उस विशिष्ट स्थान पर शुद्ध-स्वच्छ चटाई, चौकी या शिला आदि का परिमार्जन कर, उस पर स्थित हो; समयानुसार सामायिक, आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि पाठ पढ़कर; अपनी शक्ति के अनुसार कम से कम दो घड़ी, मध्यम चार घड़ी, उत्कृष्ट छह घड़ी पर्यंत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमा का संकल्पकर, पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुखकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा हो जाए। मन-वचन-काय के व्यापार को शुद्ध करते हुए, आरम्भ-परिग्रह की चिंता से मुक्त हो, सर्वप्रथम हाथ जोड़कर शांत भाव से अत्यंत मंद स्वर तथा स्पष्ट शब्दों में सामायिक दण्डक का पाठकर, तीन आवर्त पूर्वक (मुकुलित हाथों को अंजुलि जोड़कर दाहिने से बाँए ओर घुमाते हुए) परोक्ष रूप में समस्त पंच परमेष्ठिओं, कृत्रिम और अकृत्रिम जिनबिम्बों-जिनालयों, जिनवाणी और जिनधर्ममय नौ जिन देवताओं को नमस्कार करे। तत्पश्चात् अपने दाहिने हाथ की ओर से घूमते हुए इसी विधि पूर्वक अन्य दिशाओं में स्थित नव देवताओं को नमस्कार करे (यदि पूर्व दिशा की ओर मुखकर खड़ा हुआ हो तो दक्षिण, पश्चिम, उत्तर – इस क्रम से तथा उत्तर दिशा की अपेक्षा पूर्व, दक्षिण, पश्चिम – इस क्रम से पूर्वोक्त विधि सम्पन्न करे)। तदनन्तर उसी विवक्षित दिशा की ओर मुखकर अपनी शक्ति-अनुसार खडगासन या पद्मासन मुद्रा को धारणकर, मौनपूर्वक उपसर्ग-परिषह आदि स्थिति में भी अपनी समय-सीमा पर्यन्त समस्त सावद्य योगों का त्यागकर, समताभाव पूर्वक पूर्णतया निश्चल रहे।

भाव सामायिक की विधि – इस समय तत्त्व-विचार पूर्वक स्व-पर का भेदविज्ञान करते हुए आत्मामय रहने का, सहज ज्ञाता-दृष्टा रहने का, निर्विकल्प रहने का प्रयास करे। इसमें मन नहीं लगने पर पंच परमेष्ठिओं के स्वरूप का विचार करे। संसार और मोक्ष के स्वरूप का विचार करते हुए, अपने परिणामों तथा उनके

फल का विचार करे। वस्तु के सहज, सुनिश्चित, सुव्यवस्थित परिणमन क्रम को हृदयंगम कर सहज अकर्ता/ज्ञाता-दृष्टामय रहते हुए आत्मस्थ रहे; उपयोग को यहाँ-वहाँ भटकाने का प्रयास नहीं करे। प्रत्येक परिस्थिति/ज्ञेय को समताभाव पूर्वक सहज स्वीकारकर आत्मस्थ रहे।

द्रव्य-भाव विधिपूर्वक की गई सामायिक से लाभ – सामायिक के समय की गई द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमा के बाहर यह जीव महाव्रतिओं के समान समस्त आरम्भ-परिग्रह के त्याग से पाँचों पापों का पूर्णतया त्यागी कहा गया है तथा अपने मर्यादित स्थान पर भी सावद्य योग का त्यागी तथा समता का अभ्यासी होने से वस्त्र से आच्छादित मुनिराज के समान माना गया है; इससे ही मुनिपद की शिक्षा का अभ्यास होता है; अतः प्रतिदिन आलस्य रहित हो, एकाग्रचित्त से सामायिक का अभ्यास करना चाहिए।

विभिन्न आचार्यों की अपेक्षा सामायिक शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ – आचार्य पूज्यपाद स्वामी तत्त्वार्थसूत्र सातवें अध्याय के 21वें सूत्र की टीका लिखते हुए सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में लिखते हैं – " समेकीभावे वर्तते।.....एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समयः एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम् – 'सम्' उपसर्ग का प्रयोग एकीभाव अर्थ में किया जाता है।.....(सामायिक में मूल शब्द समय है) जानना और गमन करना/परिणमित होना – ये दोनों कार्य जो एक साथ करता है, वह समय अर्थात् आत्मा है; समय ही सामायिक है। अथवा समय अर्थात् एकरूप हो जाना ही जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक है।"

तत्त्वार्थसूत्र नवमें अध्याय की टीका लिखते हुए आचार्य अकलंकदेव अपने तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) ग्रंथ में सामायिक शब्द का इसप्रकार विश्लेषण करते हैं – "आयन्तीत्यायाः अनर्थाः सत्त्वव्यपरोपणहेतवः, संगताः आयाः समायाः, सम्यग्वा आयाः समायास्तेषु ते वा प्रयोजनमस्येति सामायिकमवस्थानम् – आय=अनर्थ अर्थात् प्राणिओं की हिंसा के हेतुभूत परिणाम; उस आय/अनर्थ का सम्यक् प्रकार से नष्ट हो जाना समाय है; अथवा सम्यक् आय अर्थात् आत्मा के साथ एकीभूत होना समाय है। उस समाय में होनेवाला अथवा वह समाय ही है प्रयोजन जिसका, वह सामायिक है।"

चारित्रसार ग्रंथ में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है – ''सम्यगेकत्वेनायनं गमनं समयः, स्वविषयेभ्यो विनिवृत्त्य कायवाङ्मनःकर्मणामात्मना सह वर्तना द्रव्यार्थेनात्मनः एकत्वगमनमित्यर्थः। समय एव सामायिक, समयःप्रयोजनमस्येति वा सामायिकम् – अच्छी तरह से प्राप्त होना, एकत्वरूप से आत्मा में लीन होना समय है; अपने-अपने विषयों से हटकर काय, वचन और मन की प्रवृत्ति का आत्मा के साथ वर्तना; द्रव्य और अर्थ द्वारा आत्मा के साथ एकत्व गमन है – यह इसका अर्थ है। ऐसा समय ही सामायिक है अथवा समय ही जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक है।''

सामायिक का अस्ति-नास्ति परक अर्थ स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार जीवकाण्ड की जीव-तत्त्व-प्रबोधिनी टीका में आचार्य अभयचंद्र सूरी लिखते हैं – ''समं एकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निर्वृत्त्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः; अयमहं ज्ञाता दृष्टा चेति आत्मविषयोपयोग इत्यर्थः, आत्मनः एकस्यैव ज्ञेय-ज्ञायकत्वसंभवात्। अथवा सं समे रागद्वेषाभ्यामनुपहते मध्यस्थे आत्मनि आयः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समायः स प्रयोजनमस्येति सामायिकम् – सम् अर्थात् एकत्वरूप से, आय अर्थात् आगमन; अर्थात् परद्रव्यों से निर्वृत्त होकर उपयोग की आत्मा में प्रवृत्ति समाय है। एक ही आत्मा के ज्ञेय-ज्ञायकपना सम्भव होने से यह मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ – इसप्रकार से आत्मा में उपयोग रहना इसका अर्थ है। अथवा सम् अर्थात् सम में/राग-द्वेष से रहित मध्यस्थ आत्मा में, आय अर्थात् उपयोग की प्रवृत्ति समाय है; वह समाय जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी इसे सर्वत्र सामयिक नाम देते हैं।

निष्कर्ष यह है कि समस्त सावद्य योगों, पर पदार्थों से हटकर अपने उपयोग को आत्मस्वरूप में लगाना/स्थिर करना सामायिक है। इसमें व्यक्त वीतरागता वास्तविक निश्चय सामायिक प्रतिमा है तथा सामायिक करने के शुभभाव और तदनुकूल शुभ क्रियाएं व्यवहार सामायिक प्रतिमा है।

प्रश्न 8: सामायिक प्रतिमा और सामायिक शिक्षाव्रत में क्या अन्तर है ?

उत्तरः वैसे तो ये दोनों ही एक पंचमगुणस्थानवर्ती दशाएं हैं; तथापि इनमें कुछ अन्तर है। वह इसप्रकार है –

सामायिक प्रतिमा	सामायिक शिक्षाव्रत
1. यह एक स्वतंत्र मूलव्रत है।	यह व्रत प्रतिमा का एक अंश रूप शीलव्रत है।
2. यह तीसरी प्रतिमा होने से इसमें दूसरी प्रतिमावाले की अपेक्षा कषाय की हीनता और अतीन्द्रिय आनन्द की अधिकता है।	इसमें तीसरी प्रतिमावाले की अपेक्षा कषाय की अधिकता और अतीन्द्रिय आनन्द की हीनता होती है।
3. यह तीसरी प्रतिमा का मूलव्रत होने के कारण इस प्रतिमा सम्पन्न जीव तीन बार नियम से सामायिक करता है।	यह शील/अभ्यासरूप होने के कारण इसमें तीन बार का नियम नहीं है।
4. इसमें द्रव्य-भावमय विधिपूर्वक सामायिक होती है।	इसमें कदाचित् अपवाद की स्थिति भी बन सकती है।
5. इसमें सामायिक व्रत निरतिचार है।	इसमें यह अतिचार सहित है।
6. तीन बार सामायिक नहीं करने पर शुद्धि नष्ट हो जाने से यह प्रतिमा ही नष्ट हो जाती है।	इसमें यह सातिचार होने के कारण कदाचित् नहीं कर पाने पर भी व्रत प्रतिमा खण्डित नहीं होती है।

इत्यादि प्रकार से इन दोनों में अन्तर है।

प्रश्न 9: प्रोषधोपवास प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः दर्शनमोहनीय, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के अभाव पूर्वक प्रगट हुए पूर्वोक्त तीन प्रतिमामय सम्यक् रत्नत्रय सम्पन्न यह देशसंयमी प्रत्याख्यानावरण आदि विकृतिओं की विद्यमानता के कारण सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं कर पाता है; तथापि प्रत्याख्यानावरण की मंदता होने से यह पर्व तिथिओं में उनका पूर्णतया त्यागकर अपना पूरा समय धार्मिक क्रियाओं में ही व्यतीत करता है; यही प्रोषधोपवास प्रतिमा है। कविवर पं. बनारसीदासजी नाटक समयसार के चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद 63 में इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''प्रथमहिं सामायिक दशा, चार पहर लौं होय।
अथवा आठ पहर रहे, प्रोषध प्रतिमा सोय।।

जहाँ पूर्व वर्णित सामायिक की दशा कम से कम चार प्रहर अर्थात् 12 घंटे और अधिक से अधिक आठ प्रहर अर्थात् 24 घंटे पर्यंत बनी रहती है, उसे प्रोषधप्रतिमा कहते हैं।''

प्रोषधोपवास का स्वरूप समझने के लिए विभिन्न आचार्यों द्वारा किए गए 'प्रोषधोपवास' शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी द्रष्टव्य हैं। जो इसप्रकार हैं –

आचार्य समंतभद्रस्वामी रत्नकरण्डश्रावकाचार के 109वें श्लोक में लिखते हैं –

''चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो, यदुपोष्यारम्भमाचरति।।

चारों प्रकार के आहार का त्याग उपवास और एक बार भोजन प्रोषध कहलाता है। जो धारणा पारणा के दिन प्रोषध पूर्वक घर के आरम्भ आदि को छोड़कर उपवास प्रारम्भ करता है, वह प्रोषधोपवास है।''

इसका विश्लेषण आचार्य पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि में इसप्रकार करते हैं – ''प्रोषधशब्दः पर्व पर्यायवाची।....प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः – प्रोषध और पर्व शब्द पर्यायवाची हैं/प्रोषध का अर्थ पर्व है।....पर्व में उपवास प्रोषधोपवास है।''

कुमार कार्तिकेयस्वामी अपने कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रंथ में प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के प्रकरण में गाथा 358-359 द्वारा प्रोषधोपवास को परिभाषित करते हैं; जिसका भाव इसप्रकार है – ''जो श्रावक सदा दोनों पर्वों में स्नान, विलेपन, भूषण, स्त्री-संसर्ग, गंध, धूप आदि का त्यागकर; वैराग्यरूपी भूषण से भूषित हो उपवास, एक बार भोजन या निर्विकृति भोजन करता है, वह प्रोषधोपवास व्रत है।

निष्कर्ष यह है कि प्रोषधोपवास में यथा-शक्ति भोजन-त्याग के साथ ही आरम्भ-परिग्रह का त्यागकर अधिकाधिक अपना उपयोग धर्मध्यान में लगाने की मुख्यता है। कितने समय पर्यंत ऐसी दशा रही – इसकी अपेक्षा इस प्रोषधोपवास के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा तीन भेद हैं। 16 प्रहर/48 घंटे पर्यंत आरम्भ-परिग्रह के त्याग पूर्वक धर्मध्यान में उपयोग रहना उत्कृष्ट; 12 प्रहर/36 घंटे पर्यन्त रहना मध्यम और 8 प्रहर/24 घंटे पर्यन्त ऐसी अवस्था रहना जघन्य प्रोषधोपवास है। इसकी विधि जानने के लिए 'वीतराग विज्ञान विवेचिका', पृष्ठ 222 का अध्ययन करें।

कोई भी ज्ञानी व्रती श्रावक रात्रि में तो आरम्भ-परिग्रह का पूर्णतया त्यागी होता ही है; अतः कविवर पं. बनारसीदासजी ने उसे न गिनकर मात्र दिन के समय की अपेक्षा ही 8 प्रहर, 6 प्रहर और 4 प्रहर की गणना की है। इसप्रकार मुनि दशा प्रगट करने में असमर्थ श्रावक मुनिमार्ग को ही श्रेयस्कर मानता हुआ संसार, शरीर और भोगों से विरक्त रह पर्व दिनों में मुनिवत जीवन जीता है। यह उसका प्रोषधोपवास व्रत है। इसमें जो वीतरागतारूप वास्तविक धर्म है, वह निश्चय प्रतिमा है तथा उपवास आदि करने रूप शुभ भाव और तदनुकूल क्रियाएं उसकी निमित्त और सहचारी होने से व्यवहार प्रतिमा हैं।

प्रश्न 10: प्रोषधोपवास प्रतिमा और प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत में क्या अंतर है ?

उत्तरः वैसे तो ये दोनों ही एक पंचम गुणस्थानवर्ती दशाएं हैं; तथापि इनमें कुछ अन्तर है; वह इसप्रकार –

प्रोषधोपवास प्रतिमा	प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत
1. यह एक स्वतंत्र मूल व्रत है।	यह व्रत प्रतिमा का एक अंश रूप शीलव्रत है।
2. यह चौथी प्रतिमा होने से इसमें दूसरी प्रतिमावाले की अपेक्षा कषाय की विशेष हीनता और अतीन्द्रिय आनन्द की विशेष अधिकता है।	इसमें चौथी प्रतिमावाले की अपेक्षा कषाय की अधिकता और अतीन्द्रिय आनन्द की हीनता होती है।
3. इस प्रतिमा में प्रोषधोपवास नियम से होने-योग्य कार्य है।	यह शील/अभ्यासरूप होने के कारण इसका नियम नहीं है।
4. इसमें समग्र विधिपूर्वक प्रोषधोपवास होता है।	इसमें कदाचित् अपवाद की स्थिति भी बन सकती है।
5. इसमें प्रोषधोपवास निरतिचार है।	इसमें यह सातिचार है।
6. विधिवत प्रोषधोपवास नहीं करने पर शुद्धि नष्ट हो जाने से यह प्रतिमा ही नष्ट हो जाती है।	इसमें यह कदाचित् नहीं कर पाने पर भी व्रत प्रतिमा खण्डित नहीं होती है।

इत्यादि प्रकार से इन दोनों में अन्तर है।

प्रश्न 11: सचित्त त्याग प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः सचित्त शब्द स और चित्त – इन दो शब्दों से मिलकर बना है। स=सहित, चित्त=जीव; अर्थात् जीव सहित पदार्थ सचित्त कहलाते हैं। ऐसे पदार्थों का त्याग सचित्त त्याग है। दर्शनमोहनीय, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के अभाव पूर्वक प्रगट पूर्वोक्त चार प्रतिमामय सम्यक् रत्नत्रय सम्पन्न देशसंयमी के प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं की और अधिक मंदता हो जाने से बढ़ी हुई वीतरागता के बल पर सचित्त पदार्थों के उपयोग का भाव समाप्त हो जाना सचित्त त्याग नामक पाँचवीं प्रतिमा है। कविवर पं. बनारसीदासजी वहीं, छंद 64 द्वारा इसका स्वरूप इसप्रकार लिखते हैं –

"जो सचित्त भोजन तजै, पीवै प्रासुक नीर।
सो सचित्तत्यागी पुरुष, पंच प्रतिज्ञागीर।।

जो सचित्त भोजन का त्यागी है, प्रासुक जल पान करता है/उपयोग में लेता है, वह पाँचवीं प्रतिमा का पालन करने में तत्पर सचित्तत्यागी पुरुष/जीव है।"

आचार्य समंतभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार के 141वें श्लोक द्वारा इसका स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"मूलफलशाकशाखाकरीरकंदप्रसूनबीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः।।

जो दयामूर्ति मूल, फल, शाक, शाखा/डाली, करीर/कोंपल, कंद, फूल, बीज आदि का कच्चा/बिना प्रासुक किए भक्षण नहीं करता है, वह सचित्तत्यागी है।"

अपने समान अन्य जीवों को माननेवाला यह संवेदनशील देशसंयमी साधारण और सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति का तो पहले से ही त्यागी था। अब वीतरागता विशेष बढ़ जाने के कारण संसार, शरीर, भोगों के प्रति विशेष उदासीनता व्यक्त हो जाने से प्रासुक किए बिना अप्रतिष्ठित वनस्पति का भी भक्षण नहीं करता है। यद्यपि अप्रतिष्ठित सचित्त को अचित्त बनाने में भी प्राणघात तो होता है; तथापि प्राणघात का अभिप्राय नहीं होने से तथा प्राणी संयम की अपेक्षा इन्द्रिय संयम में विशेषता होने से वह उन्हें अचित्त/प्रासुक करके ही ग्रहण करता है। सचित्त पदार्थ को अचित्त/ प्रासुक करने की पद्धति बताते हुए मूलाचार में लिखा है –

"सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल लवणेण मिस्सयं दव्वं।
जं जंतेण य छिन्नं तं सव्वं पासुगं भणियं।।

सूखी, पकी, तपायी गई, खटाई या नमक आदि से मिश्रित तथा किसी यंत्र/चाकू आदि से छिन्न-भिन्न की गई सभी वस्तुएं प्रासुक कहलाती हैं।''

इस प्रतिमाधारी श्रावक के विद्यमान वीतरागता वास्तविक धर्म होने से निश्चय प्रतिमा कहलाती है तथा उसके साथ रहनेवाले सचित्त पदार्थ का उपयोग नहीं करनेरूप दयामय शुभभाव और तदनुकूल शुभ प्रवृत्तिआँ उसकी सहचारी और निमित्त होने के कारण उपचार से व्यवहार प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न 12: दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा या रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : दर्शनमोहनीय, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के अभावपूर्वक प्रगट हुए सम्यक् रत्नत्रयसम्पन्न देशसंयमी जीव के प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं की विशिष्ट मंदता हो जाने से संसार, शरीर और भोगों संबंधी विशिष्ट अनासक्तिभाव व्यक्त हो जाने के कारण वह दिन में स्वस्त्री के साथ भी मैथुन का त्यागी हो जाता है तथा नव-नव कोटी से रात्रि भोजन का त्यागी हो जाता है। यह दिवामैथुन या रात्रि-भुक्ति त्याग नामक छठवीं प्रतिमा है। कविवर पं. बनारसीदासजी वहीं, छंद 65 द्वारा इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जो दिन ब्रम्हचर्य व्रत पालै, तिथि आये निशि दिवस संभालै।
गहि नव बाड़ करै व्रत रक्षा, सो षट् प्रतिमा श्रावक अख्या।।

जो दिन में ब्रम्हचर्य व्रत का पालन करता है, पर्व तिथिओं में दिन-रात दोनों समय ब्रम्हचर्य व्रत का पालन करता है, नव बाड़ पूर्वक इस व्रत की रक्षा करता है, वह छठवीं प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।''

इसप्रकार कविवर पं. बनारसीदासजी छठवीं प्रतिमा को दिवा मैथुन त्याग के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस साधक जीव के दूसरी प्रतिमा में ब्रम्हचर्य अणुव्रत रूप स्वदार सन्तोषव्रत निरतिचार हो जाने के कारण परस्त्री संबंधी विकृतभाव आदि का तो पहले ही पूर्णतया अभाव हो गया था। तत्पश्चात् स्वरूप-स्थिरता में विशेष वृद्धि होते जाने से अब स्वस्त्री के प्रति भी कुछ अनासक्ति का परिणाम जागृत हो गया है; अतः अब दिन में पूर्ण ब्रम्हचर्य से रहता है। पर्व तिथिओं में तो विशिष्ट आत्मसाधना के लिए दिन-रात दोनों में ही नवबाड़ पूर्वक ब्रम्हचर्य व्रत का पालन करता है; तथापि पूर्ण अनासक्ति भाव नहीं होने से अभी पूर्ण ब्रम्हचर्य का पालन नहीं कर पा रहा है।

महिलाओं का भी इसीप्रकार से समझ लेना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव, आचार्य समन्तभद्रस्वामी आदि ने इस प्रतिमा को रात्रि-भुक्ति त्याग नाम दिया है। इसका स्वरूप बताते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार के 142वें श्लोक में आचार्य समन्तभद्रस्वामी लिखते हैं –

"अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः, सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनः।।

प्राणिओं पर अनुकम्पारूप परिणाम को धारण करनेवाला जो पुरुष रात्रि में अन्न, पान, खाद्य, लेह्य आदि का भक्षण नहीं करता है; वह रात्रि भुक्तिविरत श्रावक है।"

यद्यपि सम्यग्दर्शन से पूर्व विशुद्धि लब्धि या अष्ट मूलगुणों के पालन में रात्रिभोजन का त्याग हो गया था; परन्तु वह स्थूल रूप में तथा अतिचार सहित था। तदनन्तर पहली दार्शनिक प्रतिमा में स्व संबंधी रात्रि भोजन का त्याग निरतिचाररूप में भी हो गया था; परन्तु नव कोटि से त्याग नहीं होने के कारण अन्य संबंधी रात्रि भोजन के पाप का भागी किसी न किसी रूप में हो रहा था। अब वीतरागता विशेष बढ़ जाने के कारण इस छठवीं प्रतिमा में वह रात्रि भोजन का पूर्णतया नव-नव कोटी से त्यागी हो गया है। अब उसके जीवन में किसी भी प्रकार का रात्रिभोजन संबंधी अशुभभाव विद्यमान नहीं है; अतः इसे रात्रिभुक्तिविरति कहते हैं।

इसमें जो स्वरूप स्थिरतारूप वास्तविक धर्म है, वह तो निश्चय छठवीं प्रतिमा है तथा दिवा मैथुन या रात्रिभुक्ति के त्यागरूप शुभभाव और तदनुकूल प्रवृत्तिआँ उसके सहचारी और निमित्त होने के कारण उपचार से व्यवहार प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न 13: ब्रम्हचर्य प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः दर्शनमोहनीय, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के अभाव पूर्वक प्रगट हुए सम्यक् रत्नत्रयसम्पन्न देशसंयमी जीव के प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं की विशिष्ट मंदता हो जाने से संसार, शरीर और भोगों संबंधी विशिष्ट अनासक्ति भाव व्यक्त हो जाने के कारण, मैथुनरूप अशुभभाव पूर्णतया नष्ट होकर, स्त्री मात्र से उदासीन हो, आत्मस्वरूप में रमणतारूप ब्रम्हचर्यभाव व्यक्त हो जाता है; यह ब्रम्हचर्य नामक सातवीं प्रतिमा है। कविवर पं. बनारसीदासजी वहीं, छंद 66 में इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जो नव बाड़ि सहित विधि साधै, निशदिन ब्रम्हचर्य आराधै।
सो सप्तम प्रतिमा धर ज्ञाता, शील शिरोमणि जग विख्याता।।

जो नवबाड़ सहित विधि पूर्वक, दिन-रात ब्रम्हचर्य की आराधना करता है, वह जगत विख्यात, शील शिरोमणि ज्ञाता जीव सप्तम प्रतिमाधारी है।"

धान्यमय फसल की सुरक्षा के लिए खेत में सब ओर लगाए जानेवाले कटीले तार आदि को बाड़ कहते हैं; इससे पशु, शत्रु आदि से खेत सुरक्षित हो जाता है। निम्नलिखित नव सावधानिआँ आत्मारूपी खेत में उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय आनन्दमय ब्रम्हचर्य रूपी फसल को सुरक्षित रखतीं हैं; अतः उन्हें नवबाड़ कहते हैं। वे इसप्रकार हैं –

1. स्त्रिओं के समागम में नहीं रहना।
2. उन्हें राग/विकार दृष्टि से नहीं देखना।
3. उनसे परोक्ष में विकारमय संभाषण, पत्राचार आदि नहीं करना।
4. पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना।
5. कामोत्पादक गरिष्ठ भोजन नहीं करना।
6. कामोत्पादक साज-श्रृंगार आदि नहीं करना।
7. स्त्रिओं के आसन, पलंग, बिस्तर आदि पर नहीं बैठना, नहीं सोना।
8. कामोत्पादक कथा, गीत आदि नहीं सुनना।
9. भूख से कुछ कम भोजन करना।

महिला को ये सभी पुरुषों के संबंध में समझ लेना चाहिए।

आचार्य समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार के 143वें श्लोक द्वारा इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"मलबीजं मलयोनिं, गलन्मलं पूतगन्धि बीभत्सं।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद् विरमति यो ब्रम्हचारी सः।।

जो इस शरीर को मलरूपी बीज से उत्पन्न हुआ, मल को ही उत्पन्न करनेवाला, मल को ही बहानेवाला, महादुर्गन्धमय और घृणा के स्थान रूप में देखता हुआ अनंग/विषय-विकार से विरक्त हो जाता है, वह ब्रम्हचारी है।"

निष्कर्ष यह है कि स्वरूप-स्थिरता से व्यक्त वीतरागतामय अतीन्द्रिय आनन्द के बल पर विषय-विकारों से निवृत्त हो जाना ब्रम्हचर्य प्रतिमा है। यह जीव गृहस्थी में रहता हुआ परिस्थितिवश भूमिकानुसार आजीविका आदि गृहकार्य

करता हुआ भी अपनी निष्कषाय वृत्ति के कारण पंचेन्द्रिय विषय-भोगों के प्रति विरक्त रहता है।

इसमें व्यक्त हुई वीतरागता वास्तविक धर्म होने से निश्चय ब्रम्हचर्य प्रतिमा है तथा नवबाड़ पूर्वक मैथुन मात्र के त्यागरूप शुभभाव तथा तदनुकूल प्रवृत्तिआँ उसकी निमित्त या सहचारी होने के कारण उपचार से ब्रम्हचर्य प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न 14: आरम्भत्याग प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः दर्शनमोहनीय, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि विकृतिओं के अभाव पूर्वक प्रगट हुए सम्यक् रत्नत्रयसम्पन्न देशसंयमी जीव के प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के अत्यधिक मन्द हो जाने पर, संसार-शरीर भोगों के प्रति तीव्र अनासक्ति भाव हो जाने से तथा प्राणीमात्र के प्रति दया का परिणाम प्रबल हो जानें से हिंसा आदि पापोत्पादक गृह कार्य/आरम्भ करने का अशुभ परिणाम नष्ट हो जाता है, यह आरम्भ त्याग प्रतिमा है। कविवर पं. बनारसीदास जी वहीं, छंद 68 द्वारा इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जो विवेक विधि आदरै, करै न पापारम्भ।
सो अष्टम प्रतिमा धनी, कुगति विजय रणथम्भ।।

जो विवेकपूर्ण पद्धति का आदर करता हुआ पापमय आरम्भ नहीं करता है, वह कुगति पर विजय पाने के लिए रणस्तम्भ के समान, आत्मवैभववान आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक है।''

आचार्य समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार के 144वें छंद द्वारा इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोर्योसावारम्भविनिवृत्तः ।।

जो जीव प्राण-अतिपात/प्राणघात/हिंसा के कारणभूत सेवा/नौकरी, कृषि/खेती, वाणिज्य/व्यापार आदि आरम्भ का त्याग करता है, वह आरम्भत्याग नामक आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक है।''

वास्तव में बाह्य धन-सम्पत्ति आदि रंचमात्र भी सुख की कारण नहीं है; वह कमाने रूप अपने विकल्पों या श्रम से इकट्ठी भी नहीं होती है; सुरक्षा करने से सुरक्षित भी नहीं रहती है। उसका रहना या नहीं रहना, उसकी अपनी उपादानगत योग्यता तथा निमित्तरूप में पूर्ववद्ध पुण्य-पाप कर्मों के उदयानुसार होता है। अपने

विकल्पों का, व्यर्थ की भाग-दौड़ का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। – यह सत्य तथ्य चारित्र के स्तर पर भी जीवन में समा जाने से अब इस व्रती श्रावक के मन में किसी भी प्रकार के पापारम्भ का परिणाम उत्पन्न नहीं होता है। यदि परिस्थितिवश कभी कुछ आरम्भ करना भी पड़े तो अत्यन्त विरक्त भाव से पूर्णतया विवेक पूर्वक, सावधानी रखते हुए अशक्य अनुष्ठान समझकर करता है।

यह व्रती श्रावक धन कमाने के कारणभूत व्यापार आदि का तो सर्वथा त्याग ही कर देता है। अपने संचित धन में से अपनी आवश्यकतानुसार कुछ धन को अपने पास रखकर शेष को स्त्री-पुत्रादि परिवार-कुटम्बीजनों में, धर्मायतनों में, दीन-दुखिओं में वितरित कर देता है। अपने लिए रखे हुए धन से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ शेष बचे हुए को साधर्मिओं आदि के दुःख-निवारण आदि में लगाता है।

यदि अपने पास रखा हुआ धन चोरी आदि के माध्यम से नष्ट हो जाए तो पुनः कमाने का यत्न नहीं करता है, परिणामों में उदासीनभाव जागृतकर आगे ही बढ़ता है। ऐसे भावों युक्त जीव आरम्भ निर्वृत्त/त्याग नामक आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक है।

इसमें विशिष्ट स्वरूपस्थिरतारूप वीतरागता तो वास्तविक धर्म होने से निश्चय प्रतिमा है तथा व्यापार आदि आरम्भ नहीं करने रूप शुभभाव तथा तदनुकूल प्रवृत्तिआँ उस वीतरागता की निमित्त या सहचारी होने के कारण उपचार से व्यवहार प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न 15: परिग्रहत्याग प्रतिमा को स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः दर्शनमोहनीय, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क के अभाव में प्रगट हुए सम्यक् रत्नत्रयसम्पन्न देशसंयमी जीव के प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के और भी अधिक मन्द हो जाने पर संसार, शरीर, भोगों के प्रति तीव्र अनासक्ति भाव हो जाने से तथा आत्मा के विशेष परिग्रहण पूर्वक आत्मवैभव में और भी अधिक संतुष्ट हो जाने से, वह अपने पास रखे हुए परिग्रह में से भी अत्यल्प रखकर शेष सभी का त्याग कर देता है, यह परिग्रह त्याग प्रतिमा है। कविवर पं. बनारसीदासजी वहीं, छंद 69 द्वारा इसे इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"जो दशधा परिग्रह को त्यागी, सुख सन्तोष सहित वैरागी।
समरस संचित किंचित् ग्राही, सो श्रावक नौ प्रतिमावाही।।

जो दश प्रकार के परिग्रह का त्यागकर, सुख-सन्तोष पूर्वक वैरागी होकर, समताभाव से अत्यंत आवश्यक आवश्यकताओं की सामान्य पूर्ति के लिए संचित परिग्रह में से अत्यल्प परिग्रह ग्रहणकर शेष सभी का त्याग कर देता है, वह परिग्रह त्यागी श्रावक है।

क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बर्तन अथवा क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, दास-दासी आदि मनुष्य, गाय-भैंस आदि पशु, शैया-आसन आदि सोने-बैठने के साधन, यान-वाहन आदि गमनागमन के साधन, वस्त्र और बर्तन – ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं। इनका होना, नहीं होना सुख-दुःख का कारण नहीं है। अपने से पूर्णतया भिन्न पर पदार्थ होने से ये अपने अधीन नहीं हैं। ये अपनी-अपनी योग्यतानुसार और निमित्तरूप से पूर्वबद्ध कर्मों के उदयानुसार अपने सानिध्य में रहते हैं, जीव की इच्छानुसार नहीं। इनके प्रति मेरा ममत्व ही दुःखमय तथा दुःख का कारण है और निर्ममता ही सुखमय तथा सुख का कारण है इत्यादि भावनाओं के बल पर यह साधक जीव अपने लिए उपयोगी अति आवश्यक, अत्यल्प पदार्थों को अपने पास रखकर शेष सभी परिग्रह का पूर्णतया त्याग कर देता है। अत्यल्प रखे हुए परिग्रह को उपयोग में लेने के भाव को, अपनी अनधिकृत चेष्टा समझनेवाला, समस्त इच्छाओं तथा दीनता-हीनता से रहित, कर्मोदयानुसार यथा-लब्ध आहार, स्थान, वस्त्र आदि में संतुष्ट रहनेवाला यह साधक प्राप्त परिग्रह के प्रति अनासक्त भाव रखता हुआ, पूर्ण अपरिग्रही होने की सतत भावना भाता हुआ, स्वरूप-स्थिर रहने का प्रयास करता हुआ, सतत समरसी भाव में निमग्न रहता है। यह परिग्रह त्याग नामक नवमीं प्रतिमाधारी श्रावक है।

इसमें व्यक्त वीतरागता वास्तविक धर्म होने से निश्चय प्रतिमा है तथा समस्त परिग्रह के त्याग रूप शुभभाव और तदनुकूल शुभ प्रवृत्तिआँ उस वीतरागता की निमित्त या सहचारी होने के कारण उपचार से व्यवहार प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न 16: अनुमति त्याग प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: दर्शनमोहनीय, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि विकृतिओं के अभाव पूर्वक प्रगट हुए सम्यक् रत्नत्रयसम्पन्न देशसंयमी जीव के नवमीं प्रतिमावाले की अपेक्षा प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के और भी अधिक मन्द हो जाने से आरम्भ-परिग्रह संबंधी कार्यों में अनुमति देने का भी भाव नहीं आता है,

यह अनुमति त्याग प्रतिमाधारी श्रावक है। कविवर पं. बनारसीदासजी वहीं, छंद 70 द्वारा इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"पर कौं पापारम्भ को, जो न देइ उपदेश।
सो दशमीं प्रतिमा सहित, श्रावक विगत क्लेश।।

जो अन्य को पाप संबंधी आरम्भ का उपदेश नहीं देता है, वह क्लेश/खेद/दुःख रहित दशमीं प्रतिमाधारी श्रावक है।"

आचार्य समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार के 146 वें श्लोक द्वारा इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"अनुमतिरारम्भे वा, परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः सः मन्तव्यः।।

जो आरम्भ में, परिग्रह में; विवाह करना, घर बनाना, व्यापार-नौकरी करना इत्यादि इस लोक संबंधी कार्य में अनुमति नहीं देता है, वह सम बुद्धिवाला अनुमति विरत जानना चाहिए।"

वास्तव में प्रत्येक संसारी प्राणी अपने द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्मों का फल भोगता है। कोई अन्य उसके कर्मों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता है। उस जीव को अपनी भवितव्यता के अनुसार ही शुभ-अशुभ करने के भाव उत्पन्न होते हैं। उनमें किसी की भी सलाह, सुझाव, आज्ञा, उपदेश, समझ, अनुभव, इच्छा आदि किंचित् भी कार्यकारी नहीं है – यह तथ्य चारित्र के स्तर पर भी जीवन में समा जाने के कारण इस व्रती श्रावक को अन्य के पापारम्भ सम्पन्न कार्यों में सलाह, सुझाव, मार्गदर्शन, अनुमति आदि देने रूप अशुभभाव उत्पन्न नहीं होता है।

वास्तव में अन्य को सलाह आदि देने से उसमें कुछ परिवर्तन तो होता नहीं है; पाप की अनुमोदना आदि से व्यर्थ ही पापबंध हो जाता है – इस तथ्य के बल पर यह श्रावक व्यापार, विवाह, घर, वस्त्र, भोजन आदि किन्हीं भी कार्यों में, किन्हीं भी व्यक्तिओं को मार्गदर्शन आदि नहीं देता है। अपनी-अपनी करनी का फल प्रत्येक को भोगना पड़ता है, इनके कार्यों में उलझकर मैं अपना उपयोग व्यर्थ क्यों करूँ? इस चिंतन के वल पर प्रत्येक परिस्थिति में समताभाव धारण करता हुआ, सतत अकर्तृत्व भाव की भावना को पुष्ट करता रहता है। यह दशमीं अनुमति त्याग प्रतिमा है।

इसमें प्रगट हुई वीतरागता तो वास्तविक धर्म होने से निश्चय प्रतिमा है तथा अनुमति आदि नहीं देने रूप शुभभाव और शुभ प्रवृत्तिआँ निश्चय प्रतिमा की

सहचारी और निमित्त होने से व्यवहार प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न 17: उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: दर्शनमोहनीय, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि विकारी भावों के अभाव पूर्वक प्रगट हुए सम्यक् रत्नत्रयसम्पन्न देशसंयमी जीव के दशमीं प्रतिमावाले की अपेक्षा प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के और भी अधिक मन्द हो जाने से परिवार, कुटुम्ब आदि के मध्य में रहने का भाव तथा अपने लिए बनाए गए भोजन, आवास आदि को ग्रहण करने का भी भाव समाप्त हो जाता है, यह उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है। कविवर पं. बनारसीदास जी वहीं, छंद 71 द्वारा इसे इसप्रकार से स्पष्ट करते हैं –

"जो सुछंद वरते तज डेरा, मठ मंडप में करे बसेरा।
उचित आहार उदंड विहारी, सो एकादश प्रतिमाधारी।।

जो अपने घर से स्वतंत्र हो/ घर को छोड़कर मठ, मंडप आदि में निवास करता है; अनुद्दिष्ट, पूर्ण शुद्ध, यथा-लब्ध आहार-विहार आदि करता है, वह ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक है।"

आचार्य समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार के 147वें श्लोक द्वारा इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"गृहतो मुनिवनमित्वा, गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ।।

जो घर को छोड़कर, मुनिराज के समीप जाकर, गुरुओं के सान्निध्य में व्रतों को ग्रहण कर, भिक्षावृत्ति से भोजन करता हुआ, तपश्चरण करता है, वह चेल खण्डधारी उत्कृष्ट श्रावक है।"

इस प्रतिमा में प्रत्याख्यानावरण का अत्यल्प अत्यन्त मंद उदय होने से, पंचमगुणस्थानवर्ती वीतरागता सर्वाधिक बढ़ गई है। निर्विकल्प दशा भी शीघ्र-शीघ्र होने लगी है तथा कुछ अधिक काल पर्यन्त टिकने लगी है। संसार, शरीर, भोगों के प्रति उदासीनता भी बहुत अधिक बढ़ गई है; अतः अब यह श्रावक घर में नहीं रहता है। यद्यपि यह पूर्णतया नग्न दिगम्बर दशा का ही इच्छुक है; तथापि अभी पुरुषार्थ की कुछ कमजोरी होने से, प्रत्याख्यानावरण का कुछ अंश विद्यमान होने से, अपनी असमर्थता समझता हुआ खंड वस्त्र धारण करता है। जिसे ओढ़ने से पैर ढकने पर शिर नहीं ढक सके तथा शिर ढकने पर पैर नहीं ढक सके – ऐसे अपने

शरीर की लम्बाई से कम लम्बे वस्त्र को खण्डवस्त्र कहते हैं। जो अपने लिए बनाए गए भोजन, निवास आदि को ग्रहण नहीं करता है। अपने लिए किसी भी पदार्थ की याचना नहीं करता है, भोजन के लिए निमंत्रण से या बुलाने पर नहीं जाता है। यह पदार्थ मेरे लिए बनाया गया है – ऐसा आभास होने मात्र से भी उस पदार्थ को छोड़ देता है। इसे उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी कहते हैं।

इस उत्कृष्ट श्रावक के भी दो भेद हैं – ऐलक और क्षुल्लक। ऐलक दशा में पिच्छी, कमण्डलु के साथ तन पर एक लंगोटी भी होती है। आहार मुनिराजों के समान करपात्र (हाथ रूपी बर्तन) में होने पर भी मुनिराजों के समान खडगासन से नहीं होता है, वरन् पद्मासन से बैठकर लेते हैं। शेष केशलोंच आदि चर्या मुनिराजों के समान है; तथापि ये उत्कृष्ट श्रावक अणुव्रती ही हैं, महाव्रती नहीं हैं; अतः मुनिराजों के योग्य विनय-व्यवहार इनके प्रति नहीं होता है। इच्छाकार, इच्छामि आदि द्वारा इनके प्रति विनय-व्यवहार होता है।

क्षुल्लकदशा में कमण्डलु के स्थान पर धातु का बर्तन तथा पिच्छी के स्थान पर अत्यन्त मुलायम सूती वस्त्र भी हो सकता है तथा तन पर लंगोटी के साथ एक खंड वस्त्र भी होता है। ये पद्मासन से बैठकर किसी एक बर्तन में आहार लेते हैं तथा केशलोंच न कर, हजामत भी बना सकते हैं।

नौ-नौ कोटिपूर्वक उद्दिष्ट आहार, वसतिका आदि के त्यागी, गृहत्यागी और शेष आरम्भ-परिग्रह के त्यागी दोनों ही हैं।

महिलाओं में इन भेदों को क्रमशः आर्यिका और क्षुल्लिका नाम से कहा जाता है। आर्यिका एक आठ मीटर की सूती सफेद साड़ी से तथा क्षुल्लिका इसके ही साथ एक खण्ड वस्त्र से अपना तन ढँकती हैं। शेष समस्त चर्या क्रमशः ऐलक और क्षुल्लक के समान ही होती है।

इन सभी की चर्या मुनिराजों की अपेक्षा कुछ ही कम होने के कारण इन्हें उपचार से महाव्रती कहने पर भी प्रत्याख्यानावरण कषाय विद्यमान होने से इनके पंचमगुणस्थान ही है। ये गृहविरत होने पर भी उत्कृष्ट श्रावक-श्राविका ही हैं; छठवें आदि गुणस्थानवर्ती मुनि नहीं हैं; अतः इनके प्रति विनय-व्यवहार मुनिराजों के समान नहीं होता है। इनकी अष्ट द्रव्य से पूजन नहीं होती है, इन्हें साष्टांग नमस्कार भी नहीं किया जाता है, मात्र इच्छाकार आदि किया जाता है।

इसप्रकार उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी ये सर्वोत्कृष्ट श्रावक, शेष श्रावकों के

शिरोमणि तथा आदर्श हैं। वीतरागता की वृद्धि होने पर इसके बाद मुनिदशा ही आती है। इसमें प्रगट वीतरागता वास्तविक धर्म होने से निश्चय प्रतिमा है तथा शेष शुभभाव और तदनुकूल शुभ प्रवृत्तिआँ उसकी निमित्त और सहचारी होने से व्यवहार प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न 18: निश्चय प्रतिमा और व्यवहार प्रतिमा का अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः वास्तव में कोई प्रतिमारूप दशा निश्चय या व्यवहार प्रतिमारूप नहीं होती है; उस प्रतिमा रूप दशा के निरूपण में निश्चय और व्यवहार प्रतिमा – ये दो भेद हैं। इस निरूपण की मुख्यता से विषय-विषयी का अभेद कर उन भावों को भी निश्चय-व्यवहार प्रतिमा कह देते हैं। इन दोनों में निम्नलिखित अन्तर है –

निश्चय प्रतिमा	व्यवहार प्रतिमा
1. दर्शनमोह, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि के अभाव में व्यक्त हुई वीतरागता निश्चय प्रतिमा है।	शेष रहे प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि के उदय में होनेवाले शुभभाव और तदनुकूल शारीरिक क्रियाएं व्यवहार प्रतिमा हैं।
2. यह स्वयं शुद्धभाव होने से वास्तविक मोक्षमार्ग, संवर-निर्जरा तत्त्व है।	यह वास्तव में पुण्यास्रव, पुण्यबंध तत्त्व या अजीव तत्त्व है उपचार से मोक्षमार्ग या संवर-निर्जरा तत्त्व कहलाती है।
3. यह अंतरंग परिणति होने से इसकी नकल संभव नहीं है।	यह बाह्यवृत्ति होने से इसका अनुकरण भी किया जा सकता है।
4. यह मनुष्य-तिर्यंचरूप सभी व्रती श्रावकों के लगभग एक समान होती है।	शारीरिक संरचना तथा संयोगों की विविधता के कारण मनुष्य-तिर्यंच की अपेक्षा इसमें अंतर पड़ता है।
5. यह स्वयं निराकुलतामय तथा पूर्ण निराकुलता का कारण है।	यह आंशिक आकुलतामय या वेदन से रहित पूर्णतया जड़ का परिणमन है।
6. इसकी पहिचान बाह्य प्रवृत्तिओं से नहीं की जा सकती है।	इसकी पहिचान बाह्य प्रवृत्तिओं से हो जाती है।
7. यह पंचमगुणस्थान में ही होती है।	यह कभी-कभी प्रथम आदि गुणस्थानों में भी देखी जाती है।

इत्यादि प्रकार से इन दोनों में बहुत अन्तर है।

प्रश्न 19: परिग्रह परिमाणव्रत और परिग्रह त्याग प्रतिमा में क्या अन्तर है ?

उत्तरः वैसे तो ये दोनों एक पंचम गुणस्थान के ही भेद होने से समान हैं; तथापि इनमें स्वरूपगत कुछ अंतर है; वह इसप्रकार –

परिग्रह परिमाणव्रत	परिग्रहत्याग प्रतिमा
1. यह आठ मूलगुणों में सातिचार तथा दूसरी व्रत प्रतिमा में निरतिचार रूप से पलनेवाला अणुव्रत है।	यह आठ प्रतिमागत शुद्धि सम्पन्न वृद्धिगत शुद्धिमय नवमीं प्रतिमा है।
2. इसमें वीतरागता कुछ कम है।	इसमें उसकी अपेक्षा वीतरागता विशेष अधिक है।
3. यह जघन्य व्रती श्रावक कहलाता है।	यह मध्यम व्रती श्रावक कहलाता है।
4. परिग्रह का परिमाण होने पर भी यह व्यापार, सेवा आदि करता है।	यह व्यापार, सेवा आदि कार्य का पूर्ण त्यागी है।
5. परिमाण होने पर भी घर-कुटुम्ब के परिपालन की दृष्टि से इसके पास परिग्रह बहुत है।	इसके पास मात्र अपनी अत्यन्त आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अत्यल्प परिग्रह है।
6. यह सत्पात्रों को आहारदान आदि आरम्भ-परिग्रहमय दान देता है।	यह आरम्भ-परिग्रहमय दान नहीं देता है; मात्र ज्ञानदान और अभयदान देता है।
7. इसमें संसार, शरीर, भोगों के प्रति विशेष विरक्तता नहीं है।	इसमें इन संबंधी विशेष विरक्तता होने से यह शरीर-श्रृंगार का, स्त्री संबंधी विषय-भोग का पूर्णतया त्यागी है।

इत्यादि प्रकार से इन दोनों में अन्तर है।

एकादश प्रतिमा दसा, कही देसव्रत माँहि। वही अनुक्रम मूलसौं, गहौ सु छूटै नाँहि॥
चौदह गुनथानक दसा, जगवासी जिय भूल। आस्रव संवरभाव द्वै, बंध मोख के मूल॥
– नाटक समयसार, चतुर्दशगुणस्थानाधिकार, छन्द ७२, १२

पाठ 5

सुख क्या है?

प्रश्न 1: अज्ञानी जीव किसे-किसे सुख मानता है ? तथा वैसा मानना मिथ्या/गलत क्यों है ?

उत्तरः अतीन्द्रिय आनन्दमय निराकुल स्वभावी वास्तविक सुख की पहिचान नहीं होने से अज्ञानी जीव विविध रूपों में सुख की कल्पना किया करता है; जो इसप्रकार है –

अ. अज्ञानी जीव भोग-सामग्री की प्राप्ति को सुख तथा भोग-सामग्री को सुख-सामग्री मानता है। उसका मानना है कि पंचेन्द्रिय विषय भोगों के योग्य इष्ट सामग्री की सतत उपलब्धि ही सुख-समृद्धिमय दशा है। ईमानदारी पूर्वक अधिक परिश्रम करने से, अधिक अन्न उत्पन्न करने से, औद्योगिक-वैज्ञानिक उन्नति करने से देश में समृद्धि बढ़ने पर एक दिन ऐसा होगा जब प्रत्येक के पास खाने के लिए पौष्टिक आहार, पहिनने के लिए ऋतुओं के अनुकूल उत्तम वस्त्र, निवास के लिए वैज्ञानिक सुविधाओं से युक्त आधुनिक बंगला आदि समस्त सामग्री उपलब्ध होगी और सभी सुखी हो जाएंगे। निष्कर्ष यह है कि उसके अनुसार भोगमय जीवन ही सुखमय जीवन है तथा भोग-सामग्री प्राप्त करने के साधन ही सुखी होने के साधन हैं।

सुख के सन्दर्भ में उसकी यह मान्यता निम्नलिखित कारणों से गलत है –

1. यह सभी भोग-सामग्री पूर्णतया जड़, सुख स्वभाव से रहित होने के कारण हमें सुखी करने में सक्षम नहीं है; क्योंकि जो जिसके पास स्वयं नहीं हो, वह उसे दूसरों को नहीं दे सकता है।

2. सम्वेदन-योग्य दशाओं में लेन-देन का व्यवहार सम्भव नहीं होने के कारण कोई किसी को सुख-दुःख नहीं दे सकता है।

3. बाह्य सामग्रिओं का संयोग कर्माधीन होने से, उन्हें मात्र अपनी इच्छा के अनुसार, अपने पुरुषार्थ द्वारा इकट्ठा नहीं किया जा सकता है।

4. संसार में किसी के भी एक मात्र पुण्य का उदय सम्भव नहीं होने से बाह्य सामग्री सतत उपलब्ध रह ही नहीं सकती है।

5. जो देश इस समृद्धि की चरम सीमा छूने लगे हैं; जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के पास ये सभी सुविधाएं हैं; वे भी सुख-शान्ति का अनुभव कहाँ कर रहे हैं। वे भी सतत अशान्त हैं, भयाक्रांत हैं; तनावयुक्त, दुःख का ही अनुभव करते हुए, सुखी होने का मार्ग शोध रहे हैं।

इत्यादि कारणों से यह सिद्ध है कि भोग-सामग्री की प्राप्ति को सुख तथा भोग-सामग्री को सुख-सामग्री मानना मिथ्या है।

ब. कुछ लोगों का मानना है कि सुख-दुःख तो अपनी मनो कल्पना है। अपने विचारों से हम सुखी हो सकते हैं और अपने ही विचारों से हम दुखी रह सकते हैं। जैसे दो मंजिल वाले मकान के मालिक किसी व्यक्ति के एक ओर पाँच मंजिल मकान है और दूसरी ओर टूटी झोपड़ी। यदि वह पाँच मंजिल वाले से अपनी तुलना करता है तो दुखी रहता है तथा यदि टूटी झोपड़ी वाले से अपनी तुलना करता है तो सुख का अनुभव करता है। इसप्रकार उसका कहना यह है कि यदि सुखी रहना है तो सदा अपने से नीचे वालों को देखो; सुख-दुःख भोग-सामग्री में नहीं, अपनी विचारधारा में है। अपने विचार बदलकर, अपना दृष्टिकोण परिवर्तित कर हम सुखी हो सकते हैं। सुखी होना है तो दीन-हीनों की ओर देखो।

सुख के सन्दर्भ में उनकी यह मान्यता निम्नलिखित कारणों से गलत है –

1. क्या सुख वास्तव में काल्पनिक ही है, उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है ? यदि नहीं; तो काल्पनिक उड़ानों में उड़ते रहनेवाले व्यक्ति को तो लोक में भी अच्छा नहीं माना जाता है; लोक भी उसका अनुकरण करना नहीं चाहता है, तब सुख के क्षेत्र में वह आदर्श कैसे हो सकता है ?

2. दीन-दुखिओं को देखकर तो लौकिक सज्जन भी दयार्द्र हो जाते हैं। दुखिओं को देखकर ऐसी कल्पना करके स्वयं को सुखी मानना कि 'मैं इनसे तो अच्छा हूँ' – उनके दुःख के प्रति अकरुणाभाव तो है ही; साथ ही मान कषाय की पुष्टि में संतुष्ट होने की स्थिति भी है। इसे सुख तो कोई बुद्धिमान-विचारक कभी भी नहीं मान सकता है।

3. क्या सुख उस टूटी झोपड़ी में या दीन-हीनों में भरा हुआ है, जो उनकी ओर देखने से व्यक्त हो जाएगा ?

वास्तव में यहाँ भी भोग जनित सुख को ही सुख मानकर बात की गई है, जो सर्वथा मिथ्या है।

स. सुख के सन्दर्भ में कुछ लोगों का मानना यह है कि कुछ विशिष्ट कार्य करके मनोकामना पूर्ण होने से, इच्छित वस्तु की प्राप्ति होने पर हम सुखी हो जाएंगे। वे इच्छाओं की पूर्ति को सुख और इच्छाओं की पूर्ति नहीं होने को दुःख मानते हैं।

उनकी यह मान्यता निम्नलिखित कारणों से गलत है –

1. इच्छाओं की पूर्ति होना कभी सम्भव ही नहीं है; कारण की अनन्त जीवों में से प्रत्येक की इच्छाएं अनन्त हैं और भोग-सामग्री सीमित ही है।

2. एक इच्छा की पूर्ति होते ही तत्काल दूसरी नई इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इसप्रकार कभी समाप्त नहीं होनेवाला इच्छाओं का प्रपातवत प्रवाह-क्रम सतत गतिमान रहने के कारण नित्य बदलतीं नवीन इच्छाओं की पूर्ति कभी सम्भव ही नहीं है।

3. इच्छाओं की पूर्ति में सुख मानना तो शिर के भार को कन्धे पर रखकर सुख मानने के समान काल्पनिक है।

इसप्रकार समस्त इच्छाओं की पूर्ति कभी भी सम्भव नहीं होने के कारण, इच्छाओं की पूर्ति में सुख मानना मिथ्या है।

द. कितने ही लोगों का मानना है कि जितनी-जितनी इच्छाएं पूर्ण होती जाती हैं, उतना-उतना सुख होता जाता है; इसलिए वे सतत इच्छाओं को पूरा करने में लगे रहते हैं। उनका मानना है कि इच्छा की पूर्ति हो जाने पर वह नष्ट हो जाने से हम सुखी हो जाते हैं।

ऐसा मानना भी निम्नलिखित कारणों से यथार्थ नहीं है –

1. वास्तव में एक इच्छा पूरी होने के साथ ही अन्य इच्छाएं उत्पन्न हो जाती हैं; अतः सुख के स्थान पर आकुलता अधिक बढ़ जाती है।

2. अभी भी इच्छा की पूर्ति से हम सुख का अनुभव नहीं करते हैं; वरन् इच्छा की कमी से (इच्छाओं के आंशिक अभाव से) सुख का अनुभव करते हैं।

3. इच्छाओं की पूर्ति कर्माधीन, संयोगाधीन होने से सतत पराधीनता रूप दुःख का ही वेदन होता रहता है।

4. इसमें भोगजन्य दुःख के तारतम्य रूप भेदमय काल्पनिक सुख को ही सुख माना जा रहा है।

इसप्रकार आत्मोत्पन्न, स्वाधीन इच्छाओं की अनुत्पत्तिरूप अतीन्द्रिय आनन्दमय वास्तविक सुख की पहिचान नहीं होने के कारण, सुख के सन्दर्भ में मानीं गईं अज्ञानी की सभी मान्यताएं मिथ्या हैं।

प्रश्न 2: वास्तविक सुख क्या है ? वह कहाँ है और कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तरः अपने आत्मा से उत्पन्न होनेवाला, इन्द्रियातीत, विषयातीत, स्वाधीन, आत्म-संतुष्टिरूप अतीन्द्रिय आनन्दमय निराकुल सुख ही वास्तविक सुख है। इन्द्रियों द्वारा भोगा जानेवाला विषय सुख आकुलतामय, पराधीन होने से वास्तव में सुख नहीं है; दुःख का ही एक भेद है। लौकिक जन उसे सुख कहते हैं; अलौकिक ज्ञानी जन भी उन्हें समझाने के लिए उनकी ही भाषा में उसे सुख कह देते हैं; पर वे यही मानते तथा समझाते भी हैं कि यह सुख नहीं है, सुखाभास है, दुःख की थोड़ी सी कमी है तथा विषय-तृष्णा को वढ़ानेवाला होने से दुःख का कारण भी है। वास्तविक सुख तो एक मात्र आत्मोत्पन्न निराकुलतारूप ही है।

आत्मा स्वयं सुख स्वभावी होने के कारण यह सुख आत्मा का एक विशेष गुण है। अनादि-अनन्त आत्मा में ही रहता है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं रहता है। जैसे ज्ञान आत्मा का गुण होने से आत्मा में ही रहता है; उसीप्रकार सुख आत्मा का गुण होने से आत्मा में ही रहता है।

जो वस्तु जहाँ होती है, उसे वहाँ ही पाया जा सकता है। जो वस्तु जहाँ है ही नहीं, जिसकी सत्ता की जहाँ सम्भावना ही नहीं है; वहाँ उसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? जैसे 'ज्ञान' आत्मा का गुण है; अतः उसकी प्राप्ति चेतनात्मा में ही होती है, जड़ में नहीं; उसीप्रकार 'सुख' भी आत्मा का गुण है, जड़ पदार्थों का नहीं; अतः उसकी प्राप्ति आत्मा में ही होती है, शरीरादि जड़ पदार्थों में नहीं।

जिसप्रकार यह आत्मा स्वयं को ज्ञान का घनपिण्ड न मानकर, ज्ञान की आशा से अन्यत्र भटकता हुआ अज्ञानी हो रहा है; उसीप्रकार यह आत्मा स्वयं को सुख का सागर/आनन्द का कन्द नहीं मानता हुआ, सुख की आशा से परपदार्थों में भटकता हुआ दुखी हो रहा है। इसप्रकार सुख प्राप्त करने की दिशा गलत होने से दशा गलत/दुःख रूप चल रही है।

आत्मा स्वयं सुख का सागर, आनन्द का कन्द है, आनन्दमयी निराकुल तत्त्व है; अतः निराकुलसुख प्राप्त करने के लिए परोन्मुखी दृष्टि छोड़कर; आत्मा को

अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें स्थिरता ही एकमात्र कर्तव्य है। आत्मा स्वयं सुखमय होने से वास्तव में सुख प्राप्त नहीं करना है, भोगना है। आत्मानुभूति ही सुखानुभूति है। ज्ञानानन्दस्वभावी अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही लीनता/संतुष्टि/तृप्ति सर्वस्व समर्पणता ही आत्मानुभूति/सुखानुभूति है; सम्यक् रत्नत्रय है; निराकुल अतीन्द्रिय आनन्द को पर्याय में प्रगट करने/पाने का एकमात्र उपाय है।

प्रश्न 3: 'सुख क्या है ?' इस विषय पर एक निबंध लिखिए।

उत्तरः अनादिकाल से प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से भयभीत है। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सुखी होने का सतत प्रयत्न भी करता है; परन्तु सुख का वास्तविक स्वरूप तथा वह सुख कहाँ से, कैसे प्राप्त किया जाता है? यह ज्ञात नहीं होने के कारण यह जीव उसे प्राप्त नहीं कर पा रहा है। यह खाने-पीने, पहिनने-ओढ़ने, घूमने-फिरने, मजा-मौज करने आदि रूप पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में प्रवृत्ति को ही सुखमय दशा मानता है, उस विषय-सामग्री को सुख-सामग्री मानता है तथा उस सामग्री को एकत्रित करने, पाने के साधनों को सुख के साधन मानता है; परन्तु यह इतना विचार नहीं कर पाता है कि जो स्वयं सुखमय नहीं हैं, जिनमें सुख नामका गुण नहीं है, वे मुझे सुख कहाँ से, कैसे दे देंगे? यही कारण है कि वह सब विषय-सामग्री प्राप्त कर लेने के बाद भी यह जीव पूर्ववत् आकुल-व्याकुल तथा दुखी है।

कुछ विशिष्ट बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति तो सुख को काल्पनिक ही मान लेते हैं। उनका विचार रहता है कि अपने से अधिक सुख-सुविधा सम्पन्न व्यक्ति को देखने से दुःख बढ़ता है; अतः सुखी रहने के लिए सदा अपने से नीचेवालों को देखो तो अपनी स्थिति बहुत अच्छी लगेगी और हम सुखी रहेंगे; परन्तु वे इतना विचार नहीं कर पाते हैं कि दीन-हीनों को देखकर स्वयं को सुखी माननेवाला तो लौकिक सज्जन भी नहीं है। दीन-दुखिओं को देखकर तो सामान्य विचारक भी दयार्द्र हो उठता है और मैं इससे अपना बड़प्पन पुष्ट कर सुखी अनुभव कर रहा हूँ। वास्तव में इसमें भी भोग-सामग्री से ही सुख को मापा गया होने से, निराकुल सुख की पहिचान नहीं होने से इस विचारधारा वाले भी सतत सुखी होने का प्रयास करते हुए भी आकुल-व्याकुल, दुखी ही रहते हैं।

कुछ लोग इच्छाओं की पूर्ति को ही सुख मानकर सतत इच्छाओं की पूर्ति

में ही लगे रहते हैं; परन्तु इच्छाएं असीम होने से तथा भोग-सामग्री सीमित होने से, वे इस प्रयास में भी असफल ही रहते हैं; इससे भी वे आकुल-व्याकुल, दुखी ही रहते हैं।

कुछ लोगों का विचार ऐसा है कि भले ही एक साथ सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो सके; तथापि क्रम-क्रम से जितनी-जितनी इच्छाओं की पूर्ति होती जाएगी, उतने-उतने हम सुखी होते जाएंगे; इसलिए वे इच्छाओं की पूर्ति का सतत प्रयास करते रहते हैं; परन्तु एक इच्छा पूर्ण होते साथ ही अनेक इच्छाएं उत्पन्न हो जाने से इस प्रयास में भी वे सफल नहीं हो पाते हैं। इससे भी वे आकुल-व्याकुल, दुखी ही बने रहते हैं। इसमें भी भोगों को ही सुख माना गया है, वास्तविक सुख की पहिचान करने का प्रयत्न भी नहीं किया गया है।

वास्तव में तो इच्छा की पूर्ति में भासित होनेवाला सुख, सुख नहीं, सुखाभास है, दुःख की अत्यल्प कमी मात्र है; आकुलतामय तथा आकुलता का उत्पादक है। इन सभी मान्यताओं में दुःख को ही सुख मानकर, उसे प्राप्त करने का प्रयास किया गया है; वास्तविक सुख की पहिचान करने का भी प्रयास नहीं किया गया है।

वास्तविक सुख का स्वरूप तथा प्रगट करने का उपाय बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रवचनसार ग्रन्थ की 13वीं गाथा में लिखते हैं –

"अइसयमादसमुत्थं, विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिन्नं च सुहं, सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं।।

शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं का सुख अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अविच्छिन्न है।"

इससे विपरीत लोकमान्य इन्द्रिय सुख का स्वरूप बताते हुए वे वहीं, गाथा 76वीं में लिखते हैं –

"सपरं बाधासहिदं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।।

इन्द्रियों से प्राप्त सुख पराधीन, बाधासहित, विच्छिन्न, बंध का कारण और विषम है; वास्तव में ऐसा सुख, दुःख ही है।"

आचार्य अमृतचन्द्रदेव समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में सुख शक्ति का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं – **"अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः –** अनाकुलता लक्षणवाली सुखशक्ति है।"

निष्कर्ष यह है कि अपने आत्मा से उत्पन्न होनेवाला, इन्द्रियातीत, विषयातीत, स्वाधीन, आत्म-सन्तुष्टिरूप अतीन्द्रिय आनन्दमय अनाकुल/निराकुल सुख ही वास्तविक सुख है। इससे विपरीत पंचेन्द्रिय विषय-भोग जन्य, कहा जानेवाला सुख, दुःख ही है; सुख नहीं है। इच्छाओं की पूर्ति से प्रगट होनेवाला सुख, सुख नहीं है; वरन् इच्छाओं की अनुत्पत्ति/अभाव में/इच्छाओं के नहीं होने में व्यक्त होनेवाला निराकुल सुख ही वास्तविक सुख है।

आत्मा स्वयं ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त-अनन्त गुण/वैभव सम्पन्न होने से स्वयं ज्ञानानन्द स्वभावी है। आत्मा स्वयं आनन्द का कन्द, सुख का सागर है। मैं स्वयं सुख स्वभावी हूँ। मुझे सुखी होने के लिए अन्य कुछ भी नहीं चाहिए; सुख पाने के लिए अन्यत्र कहीं नहीं जाना है। जो जहाँ होता है, वह वहीं से प्राप्त होता है। मैं/आत्मा स्वयं सुख स्वभावी हूँ; अतः अपनी पर्याय में सुख प्रगट करने के लिए ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा/स्वयं को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर रहना है, उस मय रहना है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार की 206वीं गाथा द्वारा इसे इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो, होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।

इस (ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा) में ही रत/प्रीतिवाला हो, इसमें नित्य संतुष्ट हो और इसमें ही तृप्त हो; इससे तुम्हें उत्तम सुख होगा।"

आनन्द आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने आत्मा को अपनत्वरूप से ग्रहण कर लेने पर ज्ञानी को अन्य कुछ इच्छाएं स्वयं ही उत्पन्न नहीं होती हैं; अतः वह सतत पर से पूर्ण निरपेक्ष निराकुल अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करता हुआ स्वयं में संतुष्ट रहता है; यही वास्तविक सुखमय दशा है।

ज्ञानी की आत्मसंतुष्टि को आचार्य अमृतचन्द्रदेव समयसार-आत्मख्याति के कलश 144 द्वारा इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते, ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण।।

क्योंकि यह (ज्ञानी) स्वयं ही अचिन्त्यशक्तिवाला देव और चिन्मात्र चिन्तामणि है; इसलिए सभी अर्थ/प्रयोजन सिद्ध होने के स्वभाववाला होने से ज्ञानी अन्य के

परिग्रह का क्या करेगा ? अर्थात् स्वयं में ही, स्वयं का सब कुछ, स्वयं से ही, स्वयं को सदा-सदा के लिए ही उपलब्ध हो जाने से ज्ञानी को अन्य कुछ भी इच्छा उत्पन्न नहीं होती है; वह सतत निराकुल अतीन्द्रिय आनन्द का पान करता है।''

इसप्रकार समस्त पर पदार्थों से पूर्णतया निरपेक्ष, स्वाधीन, शाश्वत, निराकुल, अतीन्द्रिय आनन्द ही वास्तविक सुख है। आत्मा स्वयं शाश्वत सुख स्वभावी होने से वह आत्म-स्थिरता से ही पर्याय में प्रगट होता है; अतः सुखी होने के लिए तत्त्व-अभ्यास पूर्वक स्व-पर का भेदविज्ञान कर; समस्त पर पदार्थों को, विकल्पों को गौणकर स्वरूपलीन रहने का, आत्म-संतुष्ट रहने का सतत प्रयास करना चाहिए। यही सम्यक् रत्नत्रय सम्पन्न साधक दशा है; आत्मानुभूति, सुखानुभूतिमय अवस्था है। इस प्रयास की पूर्णता अर्थात् परिपूर्ण स्वरूप-स्थिरता ही अव्याबाध सुखमय दशा है।

सुखी होने का उपाय

जिन जीवों को दुःख से छूटना हो, वे इच्छा दूर करने का उपाय करो तथा इच्छा दूर तब ही होती है, जब मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम का अभाव हो और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हो, इसलिए इसी कार्य का उद्यम करना योग्य है। ऐसा साधन करने पर जितनी-जितनी इच्छा मिटे, उतना-उतना दुःख दूर होता जाता है और जब मोह के सर्वथा अभाव से सर्व इच्छा का अभाव हो, तब सर्व दुःख मिटता है, सच्चा सुख प्रगट होता है तथा ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय का अभाव हो, तब इच्छा के कारणभूत क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन का तथा शक्तिहीनपने का भी अभाव होता है, अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य की प्राप्ति होती है तथा कितने ही काल पश्चात् अघाति कर्मों का भी अभाव हो, तब इच्छा के बाह्य कारणों का भी अभाव होता है, क्योंकि मोह चले जाने के बाद किसी भी काल में कोई इच्छा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं थे, मोह के होने पर कारण थे, इसलिए कारण कहे हैं, उनका भी अभाव हुआ, तब जीव सिद्धपद को प्राप्त होते हैं।

वहाँ दुःख का तथा दुःख के कारणों का सर्वथा अभाव होने से सदाकाल अनुपम, अखंडित, सर्वोत्कृष्ट आनन्दसहित अनन्तकाल विराजमान रहते हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ-७२

पाठ 6

पंचभाव

('आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी देव का व्यक्तित्व-कर्तृत्व' 'वीतराग विज्ञान विवेचिका' के पृष्ठ 25-26 पर पढ़िए।)

प्रश्न 1: लोक तथा जिनागम में 'भाव' शब्द किन-किन अर्थों में आता है? उनमें से प्रस्तुत पाठ में कौन सा अर्थ लिया गया है?

उत्तरः लोक में 'भाव' शब्द किसी वस्तु का धन से मूल्यांकन करने, मान कषाय की वृद्धि होने इत्यादि अर्थ में आता है।

जिनागम में 'भाव' शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में किया गया है। उनमें से कुछ प्रमुख अर्थ इसप्रकार हैं –

1. निरुक्ति परक अर्थ – ''भवनं भवतीति वा भावः – होना मात्र या जो होता है, वह भाव है।'' राजवार्तिक।।

''भवनं भावः, भूतिर्वा भावः इति भावसद्दस्स विउप्पत्ति – 'होना' यह 'भाव' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है।'' धवला।।

2. गुण और पर्याय – दोनों के अर्थ में भी 'भाव' शब्द का प्रयोग हुआ है।

3. चित्त में उत्पन्न होनेवाले विकारों के अर्थ में भी 'भाव' शब्द का प्रयोग हुआ है।

4. शुद्ध भाव या शुद्ध भाव के कारणभूत आत्मरुचि आदि के अर्थ में भी 'भाव' शब्द का प्रयोग हुआ है।

5. पंचास्तिकाय संग्रह, 107वीं गाथा की समय व्याख्या टीका में 'भाव' शब्द का प्रयोग नव पदार्थों के अर्थ में किया गया है।

6. अनन्त धर्मात्मक वस्तु की विद्यमानता के अर्थ में भी 'भाव' शब्द का प्रयोग हुआ है।

7. स्वचतुष्टयात्मक वस्तु के एक अंश स्वभाव को बताने के लिए भी 'भाव' शब्द का प्रयोग हुआ है।

8. द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक समग्र वस्तु के अर्थ में भी 'भाव' शब्द का प्रयोग हुआ है।

9. कर्म सापेक्ष जीव-परिणामों के अर्थ में भी 'भाव' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इत्यादि अनेकानेक अर्थों में 'भाव' शब्द का प्रयोग जिनागम में मिलता है।

इनमें से यहाँ नौवाँ अर्थात् कर्म सापेक्ष जीव-परिणामों के अर्थ में 'भाव' शब्द को लिया गया है।

प्रश्न 2: भाव के भेद-प्रभेदों की संख्या तथा नाम लिखिए।

उत्तर: भाव के पाँच भेद हैं – औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। आचार्य उमास्वामीदेव तत्त्वार्थसूत्र, द्वितीय अध्याय, सूत्र 1 में इसे इसप्रकार लिखते हैं – **"औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च।"**

इन पाँच भेदों के प्रभेदों की संख्या बताते हुए वे वहीं, सूत्र 2 में लिखते हैं – **"द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाःयथाक्रमम्** – यथाक्रम से इनके दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं।"

वहीं, सूत्र 3 द्वारा औपशमिक भाव के दो भेद बताते हुए वे लिखते हैं – **"सम्यक्त्वचारित्रे** – औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र"।

वहीं, सूत्र 4 द्वारा क्षायिक भाव के नौ भेद बताते हुए वे लिखते हैं – **"ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च** – क्षायिकज्ञान/केवलज्ञान, क्षायिकदर्शन/केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य तथा 'च' शब्द से पूर्वोक्त ग्रहण करना अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र।"

वहीं सूत्र 5 द्वारा क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद बताते हुए वे लिखते हैं –

"ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च – ज्ञान चार – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय; अज्ञान तीन – कुमति, कुश्रुत, कुअवधि/विभंगावधि; दर्शन तीन – चक्षु, अचक्षु, अवधि; लब्धि पाँच – क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य; क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम।"

वहीं, सूत्र 6 द्वारा औदयिकभाव के इक्कीस भेद बताते हुए वे लिखते हैं – **"गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः –**

गति चार – नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव; कषाय चार – क्रोध, मान, माया, लोभ; लिंग तीन – पुरुष, स्त्री, नपुंसक; मिथ्यादर्शन एक, अज्ञान एक, असंयत एक, असिद्ध एक; लेश्या छह – कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।''

वहीं, सूत्र 7 द्वारा पारिणामिक भाव के तीन भेद बताते हुए वे लिखते हैं – ''**जीवभव्याभव्यत्वानि च** – जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।''

इसप्रकार औपशमिक आदि पाँच भेदों के कुल त्रेपन प्रभेद हैं।

प्रश्न 3: औपशमिक भाव का और उसके भेदों का स्वरूप लिखिए।

उत्तरः ''**उपशमः प्रयोजनमस्येति औपशमिकः** – जिस भाव का उपशम प्रयोजन है, वह औपशमिक है।'' सर्वार्थसिद्धि।।

''**तेषामुपशमादौपशमिकः** – उन कर्मों के उपशम से होनेवाला भाव औपशमिक है।।'' धवला।।

''**उपशमेन युक्तः औपशमिकः** – उपशम से युक्त भाव औपशमिक है।'' पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा 56वीं की समयव्याख्या टीका।।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के श्रद्धा और चारित्र संबंधी जिन शुद्ध भावों का निमित्त पाकर मोहनीय कर्म का उपशम होता है अथवा मोहनीय कर्म के उपशम के समय आत्मा में जो भाव होते हैं, उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं। औपशमिक शब्द में मूल शब्द 'उपशम' है। उपशम के साथ संबंधवाचक 'ठञ्' प्रत्यय का प्रयोगकर 'समाज से सामाजिक के समान' उपशम से औपशमिक शब्द बन जाता है।

जीव के भाव और कर्मों के मध्य पारस्परिक, घनिष्ठतम, सहज बननेवाला निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से तथा अमूर्तिक, सूक्ष्म जीव के अमूर्तिक, सूक्ष्म भावों को पहिचानने का छद्मस्थ जीव के पास और कोई साधन नहीं होने से मूर्तिक, स्थूल कर्म की अवस्थाओं द्वारा जीव के भावों का परिचय जिनागम में कराया जाता है। जीव और कर्म दोनों में ही पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणमन होने पर भी काल प्रत्यासत्ति के कारण (दोनों के कार्य एक ही समय में हुए होने से) एक का दूसरे पर आरोप कर दोनों ओर से कथन कर दिया जाता है।

इसप्रकार जीव के जिन शुद्ध भावों का निमित्त पाकर मोहनीय कर्म का उपशम होता है, उसकी फल देने की शक्ति दब जाती है, उन्हें अथवा कर्म के उपशम के समय होनेवाले शुद्धभाव को औपशमिक भाव कहते हैं। आठ कर्मों में से उपशम दशा मात्र मोहनीय कर्म में ही होती है। मोहनीय कर्म के मूलतया

दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय – ये दो भेद होने से तथा इनका संबंध क्रमशः जीव के श्रद्धा और चारित्र गुण के साथ होने से इसके भी दो भेद हैं – औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र।

औपशमिक सम्यक्त्व – जीव के जिन शुद्ध भावों का निमित्त पाकर दर्शनमोहनीय की एक-दो या तीन और चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबंधी संबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ – इन चार प्रकृतिओं का उपशम होता है, उन्हें; अथवा इन कर्म प्रकृतिओं की उपशम दशा के समय प्रगट हुए जीव के शुद्ध भाव को औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं – प्रथम औपशमिक/प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीय औपशमिक/द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। उपशमश्रेणी की योग्यता विकसित होने के पूर्व मिथ्यात्व का उपशम कर होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्व को प्रथमोपशम सम्यक्त्व और उपशमश्रेणी आरोहण की योग्यता विकसित होने के समय क्षायोपशमिक सम्यक्त्वपूर्वक होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्व को द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

2. औपशमिक चारित्र – जीव के जिन वीतरागी शुद्ध भावों का निमित्त पाकर समस्त मोहनीय कर्म का उपशम होता है, उन्हें; अथवा इस उपशम दशा के समय प्रगट हुए जीव के शुद्ध भावों को/यथाख्यात चारित्र को औपशमिक चारित्र कहते हैं।

इसप्रकार औपशमिक भाव के दो भेद हैं।

प्रश्न 4: क्षायिक भाव का और उसके भेदों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः "क्षयः प्रयोजनमस्येति क्षायिकः – जिस भाव का क्षय प्रयोजन है, वह क्षायिक है।"

"तेषां क्षयाद् क्षायिकः – उन कर्मों के क्षय से होनेवाला भाव क्षायिक है।"

"क्षयेन युक्तः क्षायिकः – क्षय से युक्त भाव क्षायिक है।"

तात्पर्य यह है कि आत्मा के जिन शुद्ध भावों का निमित्त पाकर कर्मों का क्षय होता है, उन्हें; अथवा कर्मों की क्षय रूप दशा के समय होनेवाले जीव के शुद्धभावों को क्षायिक भाव कहते हैं। 'क्षय' शब्द के साथ संबंधवाचक ठञ् प्रत्यय का प्रयोग कर क्षायिक शब्द बनता है।

'कर्मों का क्षय होता है' अर्थात् कर्मों की अकर्मदशा हो जाती है। अब उस क्षायिक भाव से परिणमित जीव के साथ उनका किसी भी प्रकार का निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं रह जाता है। आगे अनंतकाल पर्यंत कभी भी कर्म रूप से

उनका निमित्त-नैमित्तिक संबंध उस जीव के साथ नहीं होगा। कर्मरूप परमाणुओं की सत्ता नष्ट हो जाना, क्षय शब्द का अर्थ नहीं समझना; क्योंकि किसी भी विद्यमान वस्तु का कभी भी नाश नहीं होता है; मात्र उसकी अवस्थाएं बदल जाती हैं। इसप्रकार कर्म की अकर्मरूप दशा हो जाना ही कर्म के क्षय का अर्थ है। यह दशा आठों कर्मों की होती है।

क्षायिक भाव के 9 भेदों का स्वरूप निम्नलिखित है –

1. क्षायिक-ज्ञान/केवलज्ञान – ज्ञानानन्दस्वभावी अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण लीनता से ज्ञानावरण कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए ज्ञान गुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-ज्ञान कहते हैं। यह तीनकाल-तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थों को; उनकी अपनी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावात्मक; द्रव्य, गुण, पर्यायात्मक; उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक सम्पूर्ण विशेषताओं को मात्र अपनी ही सामर्थ्य द्वारा प्रत्यक्षरूप से एक साथ जानता हुआ आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञ केवलज्ञान कहलाता है। जगत का कोई भी पदार्थ किसी भी रूप में इस ज्ञान से अज्ञात/अजाना नहीं रह सकता है। इसमें विश्व की समस्त सत्ताओं का विशेष प्रतिभास होता है।

2. क्षायिक-दर्शन/केवलदर्शन – ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण लीनता से, दर्शनावरण कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए दर्शनगुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-दर्शन कहते हैं। यह तीनकाल-तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थों को; उनमें कुछ भी भेद किए बिना, निर्विशेष, निर्विकल्प, सामान्यरूप से एक साथ अवलोकन करनेवाला आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शी केवलदर्शन कहलाता है। इससे विश्व की समस्त सत्ताओं का सामान्य प्रतिभास होता है।

3. क्षायिक-दान – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण लीनता से, दानान्तराय कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए दानगुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-दान कहते हैं। अपने शुद्ध स्वरूप का स्वयं को दान देने रूप वास्तविक दान और अनन्त जीवों को शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति में निमित्त होने, अपनी ओर से अनन्त जीवों को निश्चिंत कर देने रूप अभयदानमय औपचारिक दान के रूप में इस क्षायिक-दान का कार्य व्यक्त होता है।

4. क्षायिक-लाभ – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान् आत्मा में परिपूर्ण-लीनता से लाभान्तराय कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए लाभ गुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-लाभ कहते हैं। अपने शुद्ध स्वरूप का स्वयं को लाभ होना वास्तविक लाभ और अन्य मनुष्यों को अनुपलब्ध, शारीरिक बल को स्थिर रखने में कारणभूत, अत्यन्त शुभ, सूक्ष्म नोकर्म रूप परिणमित होनेवाले अनन्त पुद्गल परमाणुओं का प्रति समय संबंध होने रूप औपचारिक लाभ के रूप में इस क्षायिक लाभ का कार्य व्यक्त होता है।

5. क्षायिक-भोग – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण-लीनता से भोगान्तराय कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए भोग गुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-भोग कहते हैं। अपने शुद्ध स्वभाव का स्वयं को सतत भोग होना वास्तविक भोग और पुष्प-वृष्टि आदि विशिष्ट अतिशयों की प्राप्ति मय औपचारिक भोग के रूप में इस क्षायिक भोग का कार्य व्यक्त होता है।

6. क्षायिक-उपभोग – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण-लीनता से उपभोगान्तराय कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए उपभोग गुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-उपभोग कहते हैं। अपने शुद्ध स्वभाव का स्वयं को सतत उपभोग होने रूप वास्तविक उपभोग और छत्र, चँवर, सिंहासन आदि विशिष्ट विभूतिओं की प्राप्तिमय औपचारिक उपभोग के रूप में इस क्षायिक उपभोग का कार्य व्यक्त होता है।

7. क्षायिक-वीर्य – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण-लीनता से वीर्यान्तराय कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए वीर्य गुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-वीर्य कहते हैं। अपने शुद्ध स्वभाव में उत्कृष्ट सामर्थ्यरूप से प्रवृत्तिमय वास्तविक वीर्य और विश्व की समस्त परिस्थितिओं के ज्ञाता-दृष्टा होने पर भी अपने स्वभाव से विचलित नहीं होने रूप औपचारिक वीर्य रूप में इस क्षायिक वीर्य का कार्य व्यक्त होता है।

8. क्षायिक-सम्यक्त्व – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा की अपनत्वरूप में दृढ़तम प्रतीति से, दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी चतुष्क – इन सात प्रकृतिओं की क्षय रूप दशा के समय व्यक्त हुए श्रद्धा गुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-सम्यक्त्व कहते हैं।

तीन लोक को क्षुब्ध करने में सक्षम प्रतिकूलतम परिस्थिति भी इसकी प्रतीति को परिवर्तित करने में सक्षम नहीं होती है। सभी गुणों का परिणमन इसका ही अनुगामी होने से तथा इसमें कदापि विकृति नहीं होने से ही सिद्ध भगवान लौटकर संसार में नहीं आते हैं।

9. क्षायिक-चारित्र – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण स्थिरता से, चारित्रमोहनीय कर्म की पूर्ण क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए चारित्र गुण के परिपूर्ण विकसित यथाख्यात चारित्ररूप भाव को क्षायिक-चारित्र कहते हैं। समस्त लोकालोक को जानते-देखते होने पर भी इसके कारण कभी भी अतीन्द्रिय निराकुल सुख खण्डित नहीं होता है।

इसप्रकार क्षायिक भाव के नौ भेद हैं।

प्रश्न 5: क्षय संबंधी भावों को क्षायिक भाव कहते हैं; क्षय आठों कर्मों का होता है; तब फिर क्षायिक भाव के उन सभी संबंधी भेद क्यों नहीं किए गए हैं ? ये नौ भेद ही क्यों किए गए हैं ?

उत्तर: क्षय संबंधी भावों को क्षायिक भाव कहते हैं; क्षय आठों ही कर्मों का होता है – ये दोनों ही सत्य तथ्य हैं; सभी कर्मों का क्षय चौदहवें गुणस्थान के अंत में सिद्ध दशा की व्यक्तता के समय होता है। वहाँ उन संबंधी आठ भाव/गुण जिनागम में वर्णित भी हैं; तथापि यहाँ इस अपेक्षा को गौणकर मात्र चार घाति कर्म से रहित, अनन्त चतुष्टय सम्पन्न अरहंत भगवान की अपेक्षा इसके भेद किए गए हैं। ज्ञानावरण के क्षय संबंधी क्षायिक ज्ञान, दर्शनावरण के क्षय संबंधी क्षायिक दर्शन मोहनीय के क्षय संबंधी क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र तथा पाँच प्रकृतिवाले अंतराय के क्षय संबंधी क्रमशः क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य – इन्हें नौ लब्धिआँ भी कहते हैं।

मात्र चार घाति कर्मों के क्षय की मुख्यता से क्षायिक भाव के भेद करने के कुछ कारण इसप्रकार हैं –

1. प्रत्येक प्राणी अनंतसुख चाहता है। वह अघाति कर्मों के क्षय के बिना ही मात्र घाति कर्मों के क्षय में भी प्रगट हो जाता है; अतः इनकी मुख्यता से ही ये भेद किए गए हैं।

2. मात्र इनके क्षय में ही परमपूज्य परमात्मा दशा/भगवत अवस्था/आदर्श स्थिति प्रगट हो गई है; अतः इनकी मुख्यता से ही ये भेद किए गए हैं।

3. इनके क्षय के लिए जैसा बुद्धि पूर्वक अंतरोन्मुखी पुरुषार्थ होता है; वैसा अघाति कर्मों के क्षय के लिए नहीं होता है; अतः घाति कर्मों की मुख्यता से ही ये भेद किए गए हैं।

इत्यादि अनेकानेक कारणों से घाति कर्मों के क्षय की मुख्यता से क्षायिकभाव के भेद किए गए होने से उनके नौ ही भेदों का वर्णन है।

प्रश्न 6: क्षायोपशमिक भाव तथा उसके भेदों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः "क्षयोपशमः प्रयोजनमस्येति क्षायोपशमिकः – जिस भाव का क्षयोपशम प्रयोजन है, वह क्षायोपशमिक है।"

"तेषां क्षयोपशमाद् क्षायोपशमिकः – उन कर्मों के क्षयोपशम से होनेवाला भाव क्षायोपशमिक है।"

"क्षयोपशमेन युक्तः क्षायोपशमिकः – क्षयोपशम से युक्त भाव क्षायोपशमिक है।"

तात्पर्य यह है कि आत्मा के जिन मिश्र भावों का निमित्त पाकर कर्मों का क्षयोपशम होता है, उन्हें; अथवा कर्मों की क्षयोपशम रूप दशा के समय होनेवाले जीव के विकसित-अविकसित मिश्र भावों को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

अनुभाग की अपेक्षा घातिकर्म में देशघाति और सर्वघाति – इन दो स्वभावों वाली प्रकृतिआँ होती हैं। सर्वघाति प्रकृतिओं के वर्तमान कालीन स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय, आगामी कालीन स्पर्धकों के सदवस्था रूप उपशम और देशघाति प्रकृतिओं के उदय की स्थितिमय कर्म की अवस्था क्षयोपशम कहलाती है। 'क्षयोपशम' शब्द के साथ संबंध वाचक ठञ् प्रत्यय का प्रयोग कर 'क्षायोपशमिक' शब्द बनता है। मुख्यतया ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य – इन चार गुणों में ही मिश्र अवस्था होने से तथा उन संबंधी ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय – इन चार घाति कर्मों में ही क्षयोपशम दशा होने से क्षायोपशमिक भाव के 18 भेद हो जाते हैं। जिनका संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है –

मति आदि चार ज्ञान – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें आंशिक स्थिरता से, ज्ञानावरण आदि कर्मों की क्षयोपशम रूप दशा के समय व्यक्त हुए ज्ञान गुण के विकसित-अविकसित रूप भावों को, जानने-योग्य पदार्थ तथा जानने की प्रक्रिया की

अपेक्षा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान रूप क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

कुमति आदि तीन अज्ञान – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा की विराधनाकर परपदार्थों को अपना मानते हुए ज्ञानावरण आदि कर्मों की क्षयोपशमरूप दशा के समय व्यक्त हुए ज्ञानगुण के विकसित-अविकसित रूप भावों को मिथ्यात्व पूर्वक जानने-योग्य पदार्थ तथा जानने की प्रक्रिया की अपेक्षा कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, विभंगावधि/कुअवधिज्ञानरूप क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

चक्षु आदि तीन दर्शन – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण संतुष्टि के अभाव में, दर्शनावरण आदि कर्मों की क्षयोपशमरूप दशा के समय व्यक्त हुए दर्शनगुण के सामान्य प्रतिभास करने में समर्थ विकसित-अविकसित भावों को इन्द्रिय और पदार्थ की अपेक्षा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शनमय क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। (मति आदि चार, कुमति आदि तीन और चक्षु आदि तीन – इन दश भावों की चर्चा 'वीतराग विज्ञान विवेचिका' के 'उपयोग' नामक पाठ में पृष्ठ 166 से 170 पर्यंत की गई है; यहाँ पुनः उस प्रकरण का अध्ययन कर लें।)

दान आदि पाँच लब्धिआँ – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण संतुष्टि के अभाव में अन्तराय आदि कर्मों की क्षयोपशमरूप दशा के समय व्यक्त हुए दान आदि गुणों के विकसित-अविकसित रूप भावों को दान लब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि, वीर्य लब्धिरूप क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। ज्ञान-आनन्द आदि स्वभाव की व्यक्त सामर्थ्य के रूप में, दान आदि की सामर्थ्य के रूप में इनका कार्य व्यक्त होता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसकी प्रतीति से, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उदयाभावी क्षय और सद्अवस्थारूप उपशममय अनुदय पूर्वक सम्यक्त्व प्रकृति के उदयमय क्षयोपशम दशा के समय व्यक्त हुआ श्रद्धा गुण का शुद्ध भाव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। चल, मल, अगाढ़ दोषों से सहित होने पर भी यह सम्यक्त्व आत्म-प्रतीतिरूप संवर-निर्जरामय मोक्षमार्ग सम्पन्न है।

क्षायोपशमिक चारित्र – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें विशिष्ट स्थिरता से दर्शन मोह के अभाव पूर्वक चारित्र मोहनीय कर्म की क्षयोपशमरूप दशा के समय व्यक्त हुए चारित्रगुण के शुद्ध भाव को क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं। यह भी संवर-निर्जरामय मोक्षमार्ग सम्पन्न दशा है।

संयमासंयम – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव सम्पन्न अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें ही स्थिरता से, दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबंधी के अभावपूर्वक अप्रत्याख्यानावरण के भी अनुदय के समय व्यक्त हुए चारित्र गुण के संयम-असंयम रूप मिश्रभाव को संयमासंयमरूप क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। इसमें त्रस हिंसा आदि के त्यागरूप भावों के साथ ही स्थावर हिंसा आदि का अत्यागरूप भाव भी विद्यमान रहता है। इसमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप बारह व्रत तथा ग्यारह प्रतिमारूप व्रत-अव्रतमय मिश्रभाव होते हैं। इसे देशचारित्र, विरताविरत, देशसंयम, देशव्रती, अणुव्रती, संयतासंयत, पंचमगुणस्थान आदि भी कहते हैं। ये जीव मध्यम अन्तरात्मा भी कहलाते हैं।

इसप्रकार क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं।

प्रश्न 7: किस कर्म संबंधी कौन सा क्षायोपशमिक भाव है ?

उत्तर: मात्र घाति कर्मों में ही क्षयोपशम दशा होती है; अतः क्षायोपशमिक भाव इन संबंधी ही हैं। उनमें से चार ज्ञान और तीन अज्ञान ज्ञानावरण संबंधी, तीन दर्शन दर्शनावरण संबंधी; क्षायोपशमिक सम्यक्त्व दर्शनमोह और क्षायोपशमिक चारित्र तथा संयमासंयम चारित्रमोह – इसप्रकार ये तीन भाव मोहनीय संबंधी हैं। शेष दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य रूप पाँच लब्धिआँ अंतराय संबंधी हैं। इसप्रकार अठारह भेदवाला क्षायोपशमिक भाव ज्ञानावरण आदि चार घाति कर्म संबंधी है।

प्रश्न 8: चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से होने के कारण जब क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम दोनों क्षायोपशमिक भाव ही हैं; तब उन्हें पृथक्-पृथक् क्यों गिना गया है ?

उत्तर: ये दोनों क्षायोपशमिक भाव होने पर भी दोनों में स्वरूपगत अंतर होने से दोनों को पृथक्-पृथक् गिना गया है। वह इसप्रकार – घाति कर्म-प्रकृतिओं के

देशघाति और सर्वघाति – ये दो भेद हैं। देशघाति प्रकृतिओं में सर्वघाति और देशघाति – दोनों ही प्रकार के स्पर्धक होने से इनमें क्षयोपशम होता है। सर्वघाति प्रकृतिओं में मात्र सर्वघाति स्पर्धक होने से उनमें क्षयोपशम नहीं होता है। मोहनीय कर्म की सम्यक्त्व प्रकृति, संज्वलन चतुष्क और नौ नो कषायें – ये चौदह प्रकृतिआँ ही देशघाति हैं; शेष चौदह प्रकृतिआँ सर्वघाति हैं।

छठवें आदि साम्परायिक गुणस्थानों में संज्वलन चतुष्क और नौ नो कषायकर्म रूप देशघाति प्रकृतिओं का क्षयोपशम होने से वहाँ विद्यमान चारित्र क्षायोपशमिक चारित्र कहलाता है। पाँचवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म रूप सर्वघाति प्रकृतिओं का उदय है; वास्तव में तो इनका क्षयोपशम होता ही नहीं है; परन्तु इनका उदय संयमासंयम रूप देशसंयम का घात करने में समर्थ नहीं है; इनके उदय में भी वह व्यक्त रहता है; अतः इन्हें उपचार से क्षयोपशम रूप मानकर तत्संबंधी भावों को क्षायोपशमिक भाव में गिन लिया है। यह क्षायोपशमिक चारित्र के समान क्षायोपशमिक भाव नहीं है; अतः इसे उससे पृथक् कर संयमासंयम नाम दिया है।

इसप्रकार इन दोनों में स्वरूपगत अंतर होने से इन दोनों को पृथक्-पृथक् गिना गया है।

प्रश्न 9: औदयिक भाव और उसके भेदों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः "उदयः प्रयोजनमस्येति औदयिकः – जिस भाव का उदय प्रयोजन है, वह औदयिक है।"

"तेषामुदयादौदयिकः – उन कर्मों के उदय से होनेवाला भाव औदयिक है।"

"उदयेन युक्तः औदयिकः – उदय से युक्त भाव औदयिक है।"

तात्पर्य यह है कि आत्मा के जिन विभाव भावों का निमित्त पाकर कर्म का उदय होता है, उन्हें; अथवा कर्मों की उदयरूप दशा के समय होनेवाले आत्मा के भावों को औदयिक भाव कहते हैं।

'उदय' शब्द के साथ संबंधवाचक 'ठञ्' प्रत्यय का प्रयोगकर 'औदयिक' शब्द बनता है।

सभी कर्मों में उदयरूप अवस्था होने के कारण तथा कर्म और जीव के विभाव – दोनों ही असंख्यात लोक प्रमाण भेदवाले होने से यद्यपि औदयिक भाव के भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं; तथापि संक्षेप में समझने की दृष्टि से इसके इक्कीस भेद किए जाते हैं। वे इसप्रकार हैं –

नरकादि चार गति – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्तगुण सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण स्थिरता के अभावरूप विभाव परिणति से, नरकगति आदि नामकर्म तथा तत्संबंधी अन्य कर्मों के उदय आदि के समय होनेवाले जीव के विकारी भावों को नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति रूप औदयिक भाव कहते हैं। इनसे जीव की उस-उस गति संबंधी विशिष्ट शुभाशुभ प्रवृत्तिआँ होती हैं। चौरासी लाख योनिआँ, जीवसमास, कुल कोटी आदि रूप व्यंजन पर्यायगत जीव के सभी भेद इन्हीं चार औदयिक भावों में गर्भित हो जाते हैं।

क्रोध आदि चार कषाय – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण स्थिरता के अभावरूप राग-द्वेषमय विकृति से, चारित्र मोहनीय कषाय कर्म की उदय रूप दशा के समय होनेवाले जीव के परलक्षी भावों को क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायमय औदयिक भाव कहते हैं। इनका आत्मा में आत्मा को कसने, दुःख देने रूप आकुलतामय कार्य होता है। सम्यक्त्व आदि के घात की अपेक्षा इनके अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी क्रोधादिमय सोलह भेद हो जाते हैं। इनके भी उत्तर भेदों की अपेक्षा इनके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हो जाते हैं। कषाय की मन्दता-तीव्रता रूप सभी शुभाशुभ भाव इनमें ही गर्भित हैं।

स्त्रीवेद आदि तीन लिंग – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण स्थिरता के अभावरूप विभाव परिणति से, चारित्र मोहनीय नोकषाय कर्म की उदयरूप दशा के समय होनेवाले जीव के मैथुनभाव रूप परलक्षी भावों को स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेदमय लिंगरूप औदयिक भाव कहते हैं। अब्रम्ह, कुशील, शील के दोष आदि रूप सभी प्रवृत्तिआँ इसी में गर्भित हो जाती हैं।

मिथ्यादर्शन – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण सम्पन्न अपने भगवान आत्मा की अपनत्वरूप से प्रतीति के अभाव में, दर्शनमोहनीय की उदयरूप दशा के समय होनेवाले जीव के आत्म-अश्रद्धान/तत्त्व-अश्रद्धान/अतत्त्व-श्रद्धान/तत्त्व की अप्रतिपत्ति/विपरीत श्रद्धा को मिथ्यादर्शन कहते हैं। यह औदयिक भाव ही अनादि कालीन सर्व सांसारिक दुःखों का मूल कारण है। यह नष्ट हुए बिना अन्य कोई औदयिक भाव कभी भी नष्ट नहीं हो सकते हैं।

अज्ञान – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण सम्पन्न अपने भगवान

आत्मा में परिपूर्ण स्थिरता नहीं होने से ज्ञानावरण आदि घाति कर्मों की उदयरूप दशा के समय होनेवाले परपदार्थों की अजानकारीरूप भाव को अज्ञान नामक औदयिक भाव कहते हैं। इसमें आत्मज्ञान मय सम्यग्ज्ञान हो जाने पर भी सम्पूर्ण लोकालोक की प्रत्यक्ष जानकारी नहीं हो पाती है।

असंयत – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण सम्पन्न अपने भगवान आत्मा की अपनत्वरूप से प्रतीति हो जाने पर, विशेष स्थिरता का अभाव होने से, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरणरूप चारित्र मोहनीय कर्म की उदयावस्था के समय होनेवाले असंयमित/अविरति भाव को असंयत नामक औदयिक भाव कहते हैं। इस भाव में सकल संयम आदि रूप विशिष्ट शुद्धोपयोग नहीं हो पाता है।

असिद्धत्व – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में सब ओर से परिपूर्ण स्थिरता के अभाव में, कर्मों की उदयावस्था के समय होनेवाले परम यथाख्यात चारित्र/कृतकृत्यपने के अभाव को असिद्धत्व कहते हैं। इस भाव में संसारी दशा ही रहती है; निकल परमात्मा रूप सिद्ध दशा नहीं होती है।

कृष्ण आदि षट्लेश्या – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में निश्चल-निस्तरंग स्थिरता के अभाव में कर्मों की उदयावस्था के समय होनेवाले कषाय से अनुरंजित आत्मप्रदेशों के कम्पनरूप भाव को लेश्या नामक औदयिक भाव कहते हैं। जीव के परिणाम रूप भाव लेश्या के छह भेद हैं – कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। कषाय की तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम दशा की अपेक्षा ये छह भेद हो जाते हैं। अरहंत भगवान के कषाय नहीं होने पर भी योग प्रवृत्ति विद्यमान होने के कारण उपचार से शुक्ल लेश्या कही जाती है।

इसप्रकार औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं।

प्रश्न 10: जबकि उदय आठों ही कर्मों का उनकी सभी उत्तर प्रकृतिओं का होता है; तब फिर उन सभी संबंधी औदयिक भाव क्यों नहीं बताए जाते हैं ? इनके मात्र 21 भेद ही क्यों हैं ?

उत्तरः यद्यपि उदय सभी कर्म प्रकृतियों का होता है; तथापि उन सभी संबंधी औदयिक भाव नहीं होते हैं। शरीर आदि 62 प्रकृतिओं के उदय का संबंध मात्र शरीर के साथ होने से, नरक आदि 4 आयुष्क का भव के साथ और नरकगत्यानुपूर्वी आदि 4 गत्यानुपूर्वी का विग्रहगति रूप क्षेत्र के साथ संबंध होने से इन 62+4+4=70

कर्म प्रकृतिओं के उदय का सीधा संबंध जीव के साथ नहीं होने के कारण इन संबंधी औदयिक भाव नहीं होते हैं। इन संबंधी औदयिक भाव तो उपचार से कहे जाते हैं; क्योंकि जब तक इनका उदय रहता है, तब तक सिद्ध दशा व्यक्त नहीं होती है; अपना यथार्थ स्वभाव पर्याय में प्रगट नहीं हो पाता है। शेष 78 प्रकृतिओं संबंधी औदयिक भाव होते हैं। यहाँ उन्हें संक्षिप्त कर, अन्य में गर्भित कर, उनके प्रतिनिधि के रूप में मात्र 21 भेद गिनाए गए हैं।

प्रश्न 11: इन 21 भावों में से किस औदयिक भाव में किस-किस कर्मसंबंधी औदयिकभाव को गर्भित किया गया है ?

उत्तरः गति रूप चार औदयिक भावों में नामकर्म की शेष 27 प्रकृतिओं तथा गोत्र और वेदनीय कर्म की दो प्रकृतिओं संबंधी औदयिक भाव को गर्भित किया है। कषाय रूप चार भावों में चारित्र मोहनीय की प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनचतुष्क संबंधी 8 कषाय भावों को गर्भित किया गया है। लिंगरूप 3 भावों में हास्यादि नौ नो कषायरूप भाव गर्भित हैं। मिथ्यादर्शन रूप एक भाव में दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी चतुष्क संबंधी भाव गर्भित हैं। अज्ञानरूप एक भाव में ज्ञानावरण 5, दर्शनावरण 9 और अंतराय 5 कर्म प्रकृतिओं संबंधी औदयिक भाव गर्भित हैं। असंयतरूप एक भाव में अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क संबंधी भाव गर्भित है। शेष असिद्धत्व एक और लेश्यारूप छह भावों में सामान्यतया आयुष्क, नाम, गोत्र और वेदनीय रूप सभी अघाति कर्म प्रकृतिओं के उदय संबंधी भाव गर्भित हो जाते हैं।

इसप्रकार ये 21 भाव समस्त कर्म प्रकृतिओं के उदय संबंधी भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्रश्न 12: पारिणामिक भाव और उसके भेदों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः **"द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः** – द्रव्य को अपने स्वरूप की प्राप्ति मात्र में कारणभूत परिणाम है।"

"परिणामः प्रयोजनमस्येति पारिणामिकः – जिस भाव का परिणाम ही प्रयोजन है, वह पारिणामिक है।"

"परिणामे भवः पारिणामिकः – परिणाम में होनेवाला भाव पारिणामिक है।"

"परिणामेन युक्तः पारिणामिकः – परिणाम से सहित पारिणामिक है।"

तात्पर्य यह है कि जो भाव परिणाममय/स्वभाव रूप है, कर्मादि से पूर्ण निरपेक्ष है, तर्क अगोचर भगवती भवितव्यता से सुनिश्चित है, वह पारिणामिक भाव है।

'परिणाम' शब्द के साथ संबंध वाचक ठञ् प्रत्यय का प्रयोग होने से 'पारिणामिक' शब्द बनता है। यह भाव कर्म की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि सभी दशाओं से पूर्णतया निरपेक्ष, अहेतुक है; किसी पुरुषार्थ या प्रमाद का परिणाम नहीं है; किसी सुकृत या दुष्कृत का फल नहीं है; अन्य किन्हीं बाह्य संयोग जन्य भी नहीं है; पूर्णतया अकारण है। वैसे तो यह भाव सभी द्रव्यों में है; पर जीव की अपेक्षा इसके तीन भेद हैं –

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।

जीवत्व – कर्मादि समस्त परपदार्थों से पूर्ण निरपेक्ष अपने भाव प्राणों से सदा जीवित रहने का भाव/जीवित रहना/चेतनामय रहना, जीवत्व भाव है। इसके दो भेद हैं – शुद्ध जीवत्व और अशुद्ध जीवत्व।

अनादि-अनन्त, निष्क्रिय, जीवत्व आदि अनन्त वैभव सम्पन्न, ध्यान का परम ध्येय भगवान आत्मा शुद्ध जीवत्व है तथा प्राण-धारण की पर्याय रूप प्रगट योग्यता अशुद्ध जीवत्व है।

2. भव्यत्व – पर्याय में सम्यक् रत्नत्रय प्रगट करने की योग्यता भव्यत्व है।

3. अभव्यत्व – पर्याय में सम्यक् रत्नत्रय प्रगट नहीं कर सकने की योग्यता अभव्यत्व है।

इसप्रकार पर से पूर्ण निरपेक्ष, स्वभावमात्र पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं।

प्रश्न 13: इन पाँच भावों में से कौन सा भाव किनके पाया जाता है ?

उत्तरः ये भाव निम्नलिखित जीवों के पाए जाते हैं अर्थात् इन पाँच भावों के स्वामी/धारक इसप्रकार हैं –

1. पारिणामिक भाव वस्तु मात्र का स्वभाव होने से वह सभी वस्तुओं में पाया जाता है; कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसमें पारिणामिक भाव नहीं हो; परन्तु यहाँ मात्र जीव के भावों की ही चर्चा है। यह भाव प्रत्येक जीव में है। संसारी-सिद्ध, त्रस-स्थावर, सैनी-असैनी, बादर-सूक्ष्म आदि सभी जीव पारिणामिक भावमय हैं। ध्यान का परमध्येयभूत शुद्धात्मा प्रत्येक जीव में प्रत्येक पर्याय में सदा विद्यमान है।

2. औदयिक भाव सभी संसारी जीवों के विद्यमान है; एकमात्र सिद्ध भगवान ही इससे रहित हैं। मिथ्यादृष्टि, संसारी सम्यग्दृष्टि; बहिरात्मा, अंतरात्मा, सकल परमात्मा; अरहन्त, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी सभी सदा औदयिक भाव से सहित हैं।

3. क्षायोपशमिक भाव सभी छद्मस्थ जीवों के पाया जाता है। यह भाव मात्र अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठिओं के नहीं होता है; शेष सभी मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, बहिरात्मा, अन्तरात्मा, श्रावक, साधु, उपाध्याय, आचार्य परमेष्ठी आदि सभी के होता है।

4. क्षायिक भाव सभी सिद्ध परमेष्ठिओं के तो पाया ही जाता है; साथ ही कुछ संसारी जीवों में भी पाया जाता है। यद्यपि यह अभव्यों और मिथ्यादृष्टिओं के तो नहीं होता है; तथापि सम्यक्त्वी और चारित्रवानों में से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्रवान जीवों के तथा सभी अरहन्तों के नियम से पाया जाता है।

5. औपशमिक भाव मात्र औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्रवानों के ही पाया जाता है।

इसप्रकार अपनी-अपनी योग्यतानुसार ये सभी जीवों के पाए जाते हैं।

प्रश्न 14: इन पाँचों भावों का काल लिखिए।

उत्तरः वास्तव में तो एकमात्र पारिणामिक भाव ही पर्यायों से पूर्णतया निरपेक्ष होने के कारण अनादि-अनन्त है; शेष सभी पर्याय रूप होने से सादि-सान्त ही हैं; तथापि इनमें कुछ विशेष भी है। वह इसप्रकार –

पारिणामिक भाव में जीवत्व तथा अभव्यत्व भाव तो अनादि-अनन्त है। दूरानुदूर भव्य अर्थात् अभव्यसम भव्य का भव्यत्व भाव भी अनादि-अनन्त है। शेष भव्यों का भव्यत्व भाव अनादि-सान्त है।

औदयिक भाव एक समयवर्ती पर्याय की अपेक्षा तो सादि-सान्त ही है; परन्तु परम्परा की अपेक्षा अभव्य और अभव्यसम भव्य का तो अनादि-अनन्त ही है; शेष भव्य जीवों का अनादि-सान्त है।

क्षायोपशमिक भाव एक समयवर्ती पर्याय की अपेक्षा तथा मोक्षमार्गरूप क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा सादि-सान्त ही है। परम्परा से अभव्य तथा अभव्यसम भव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त और शेष भव्यों की अपेक्षा अनादि-सान्त है।

क्षायिक भाव एक समयवर्ती पर्याय की अपेक्षा सादि-सान्त है तथा परम्परा की अपेक्षा सादि-अनन्त है। इस भाववाला जीव संसार में अधिक से अधिक कुछ कम दो पूर्व कोटि अधिक 33 सागर पर्यन्त रह सकता है।

औपशमिक भाव सदैव सादि-सान्त ही है।

इसप्रकार अपनी-अपनी योग्यतानुसार पाँच भावों का काल अनादि, अनन्त, सादि, सान्त आदि रूप में पाया जाता है।

प्रश्न 15: इन पाँच भावों का ज्ञेय, हेय, उपादेय रूप में विभाजन कीजिए।

उत्तर: औदयिक आदि पाँचों भाव जीव के असाधारण भाव होने पर भी सुखमय जीवन जीने के लिए इन सभी का एक समान महत्त्व नहीं है। जाने बिना तो उपयोगिता-अनुपयोगिता का निर्णय भी नहीं हो सकता है; अतः जानने-योग्य तो सभी हैं। जानने के बाद ही हेय-उपादेय का निर्णय होता है। कहा भी है – "बिन जाने तैं दोष-गुनन को कैसै तजिए गहिए।"

शुद्ध जीवत्वरूप पारिणामिक भाव पर से पूर्ण निरपेक्ष, अनादि-अनन्त, स्वाधीन होने से आश्रय करने-योग्य है। इस त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक स्वभाव के आश्रय से ही धर्म की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता होती है; अधर्म का नाश होता है अतः यह आश्रय करने की अपेक्षा सदैव सभी को पूर्णतया उपादेय है।

औदयिक भाव विकाररूप होने के कारण पूर्णतया हेय है। भूमिकानुसार विद्यमान रहने पर भी साधक जीव मान्यता में तो इन्हें पूर्णतया हेय ही मानता है तथा सहज शुद्ध अपने पारिणामिक भाव में लीनता के बल पर इन्हें नष्ट करने का सतत अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करता रहता है।

औपशमिक, क्षायिक तथा साधक दशावाला क्षायोपशमिक भाव कथंचित् सुखमय, मोक्षमार्ग या मोक्षरूप होने से प्रगट करने की अपेक्षा उपादेय होने पर भी; पर्यायरूप होने से आश्रय करने-योग्य नहीं हैं; अतः हेय हैं।

इसप्रकार सुखी होने की अपेक्षा पारिणामिक भाव परम उपादेय है। साधक दशा का क्षायोपशमिक भाव, औपशमिक भाव और क्षायिक भाव कथंचित् हेय तथा कथंचित् उपादेय है। औदयिक भाव पूर्णतया हेय है तथा शेष रहा क्षायोपशमिक भाव मात्र ज्ञेय है; साधक दशा प्रगट करने के लिए इसका उपयोग साधन के रूप में हो जाता है।

प्रश्न 16: कहीं-कहीं 'परमपारिणामिक भाव' शब्द भी आता है; यह क्या है?

उत्तर: शुद्ध जीवत्वरूप पारिणामिक भाव को ही परम पारिणामिक भाव कहते हैं। कर्मरूप निमित्त की अपेक्षा जीव की पर्यायों को देखने पर ही उनके औदयिक आदि नाम होते हैं; वास्तव में तो प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय पूर्णतया पर से

निरपेक्ष, अपनी स्वतंत्र योग्यता से प्रगट होने के कारण परिणाम ही कहलाती है; अतः उसका भाव पारिणामिक है। इसके अतिरिक्त पारिणामिक भाव के भी भव्यत्व, अभव्यत्व, अशुद्ध जीवत्व आदि भेद भी हैं। जब इन सभी को पारिणामिक कहते हैं; तब इनसे पृथक् करने के लिए शुद्ध जीवत्व रूप पारिणामिक भाव को परम पारिणामिक कह देते हैं। परम शुद्ध निश्चयनय का विषय होने से, परमपद पंचमगति मोक्ष की प्राप्ति का आश्रयभूत कारण होने से, ध्यान का परम ध्येय, ज्ञान का परम ज्ञेय और श्रद्धा का परम श्रद्धेय होने से परम उपादेय होने से, इस पारिणामिक भाव के साथ 'परम' विशेषण लगाया जाता है।

इसप्रकार अन्य से पृथक् करने के लिए इस पारिणामिक भाव को 'परम पारिणामिक भाव' कहते हैं।

प्रश्न 17: औपशमिक आदि पाँच भावों के क्रम की सहेतुक सिद्धि कीजिए ?

उत्तरः जिनागम में इन भावों को औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक – इस क्रम से रखा गया है। इसके कारण निम्नलिखित हैं –

1. औपशमिक भाव को सर्वप्रथम रखने का कारण – निम्नलिखित कारणों से औपशमिक भाव को सर्वप्रथम रखा गया है –

अ. औपशमिक भाव से ही धर्म का प्रारम्भ होता है। जब कोई जीव पाँच लब्धि पूर्वक स्वोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा ज्ञानानन्द स्वभावी अपने भगवान आत्मा का आश्रय लेता है, तब उसे सर्वप्रथम औपशमिकभाव रूप शुद्धता, अतीन्द्रिय आनन्दमय दशा ही प्रगट होती है।

ब. इसके भेद तथा इसका समय कम होने से, इसमें पाए जानेवाले जीवों की संख्या सबसे कम है।

स. उत्पन्न होकर नियम से नष्ट होने के कारण यह एक समयवर्ती पर्याय और परम्परा दोनों की अपेक्षा ही सादि-सान्त है।

इत्यादि अनेक कारणों से इसे सर्वप्रथम स्थान मिला।

2. औपशमिक के बाद क्षायिक को रखने का कारण – दोनों भाव वीतरागतामय होने पर भी दोनों के स्वभाव परस्पर विरुद्ध होने के कारण क्षायिकभाव को औपशमिक भाव के बाद रखा है। वह इसप्रकार –

औपशमिक भाव	क्षायिक भाव
1. इसमें कर्म मात्र उपशमित होते हैं/दबते हैं।	इसमें वे पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं।
2. इसके भेद कम हैं।	इसके भेद अधिक हैं।
3. इसमें रहनेवाले जीवों की संख्या कम है।	इसमें उनकी संख्या अधिक है।
4. यह उत्पन्न होकर नियम से नष्ट होता है।	यह उत्पन्न होने के बाद नियम से नष्ट नहीं होता है।
5. यह मात्र संसार दशा में ही होता है।	यह संसारी और सिद्ध दोनों दशाओं में रहता है।
6. यह मात्र छद्मस्थदशा में ही होता है।	यह छद्मस्थ और सर्वज्ञ – दोनों दशाओं में रहता है।
7. यह मात्र अन्तरात्माओं में होता है।	यह अन्तरात्मा-परमात्मा – दोनों में ही होता है।
8. यह मात्र साधक जीवों के होता है।	यह साधक और साध्य – दोनों के होता है।
9. औपशमिक संबंधी उपशम मात्र मोहनीय कर्म का होता है।	क्षायिक संबंधी क्षय आठों ही कर्मों का होता है।

इत्यादि अनेक कारणों से दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभावी होने के कारण औपशमिक के बाद क्षायिक को रखा गया है।

3. इसके बाद तथा मध्य में क्षायोपशमिक भाव को रखने का कारण – इसके कुछ कारण निम्नलिखित हैं –

क. कर्म के उपशम और क्षयमय मिश्ररूप क्षयोपशम दशा होने से तत्संबंधी भावों के बाद, क्षयोपशम संबंधी क्षायोपशमिक भाव रखा गया है।

ख. पूर्वगत दोनों भावों की अपेक्षा इसके भेद तथा इसमें रहनेवाले जीवों की संख्या अधिक होने से इसे उनके बाद रखा गया है।

ग. यह भाव (ज्ञान, दर्शन और दानादि पाँच लब्धिओं रूप क्षायोपशमिक भाव) औपशमिक आदि मोक्षमार्ग और औदयिक रूप संसारमार्ग – इन दोनों में पाया जाता है।

घ. संसारमार्ग नष्ट करने और मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिए यह प्रगट भाव ही साधन है।

च. स्वयं इस भाव में भी दोनों ही मार्ग गर्भित हैं।

इत्यादि अनेकानेक कारणों से इसे उन दोनों के मध्य में तीसरे स्थान पर रखा गया है।

4. इसके बाद औदयिक भाव को रखने का कारण – इसके कुछ कारण निम्नलिखित हैं –

त. क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव के भेदों की तथा उसमें पाए जानेवाले जीवों की संख्या अधिक है।

थ. औपशमिक आदि मोक्षमार्ग से औदयिक रूप संसारमार्ग विपरीत है।

इत्यादि अनेक कारणों से इसे क्षायोपशमिक भाव के बाद चौथे क्रमांक पर रखा गया है।

5. पारिणामिक भाव को सबसे अन्त में रखने का कारण – इसके कुछ कारण निम्नलिखित हैं –

प. यह पर से पूर्ण निरपेक्ष, अनादि-अनन्त सभी जीवों का सहज स्वभाव होने से इसकी संख्या तथा समय सबसे अधिक है।

फ. अपने-अपने स्वभाव की अपेक्षा यह भाव सभी द्रव्यों में पाया जाता है।

ब. इस पारिणामिक/परम पारिणामिकभाव की आराधना ही सुखमय और विराधना ही दुःखमय जीवन की कारण है।

भ. पूर्वोक्त चार भावों का आधार यही है।

इत्यादि अनेक कारणों से पारिणामिक भाव को सबसे अंत में रखा है।

इसप्रकार विशिष्ट हेतुओं से इन भावों को इस क्रम से रखा गया है।

प्रश्न 18: औपशमिक आदि भावों की तीन-तीन परिभाषाएं क्यों प्राप्त होती हैं?

उत्तर: जैसे माता-पिता दोनों के संयोग से उत्पन्न हुआ पुत्र, अपने नाना के यहाँ माता का तथा दादा के घर पिता का कहलाता है; उसीप्रकार जीव के भाव और कर्म की उदय आदि दशाओं के मध्य पारस्परिक घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने

से यद्यपि दोनों में अपनी-अपनी स्वतंत्र योग्यता से एक साथ कार्य होता है; तथापि उपादान की मुख्यता से आत्मापरक और निमित्त की मुख्यता से कर्मपरक परिभाषा बन जाती है। जैसे – **"उपशमेन युक्तः औपशमिकः** – उपशम से युक्त भाव औपशमिक है।" – यह परिभाषा निमित्त-नैमित्तिक संबंध की अपेक्षा है। **"उपशमः प्रयोजनमस्येति औपशमिकः** – उपशम है प्रयोजन जिसका वह औपशमिक है।" – यह परिभाषा आत्मारूप उपादान की मुख्यता से है; और **"तेषामुपशमादौपशमिकः** – उन कर्मों के उपशम से होनेवाला औपशमिक है।" – यह कर्म रूप निमित्त की मुख्यता से की गई परिभाषा है।

इसप्रकार विवक्षा-भेद से प्रत्येक भाव की तीन-तीन परिभाषाएं दी गई हैं।

प्रश्न 19: इन तीन परिभाषाओं का प्रयोजन क्या है ?

उत्तरः प्रतिसमय प्रत्येक द्रव्य में पर से पूर्ण निरपेक्ष रह, अपनी-अपनी स्वतन्त्र योग्यतापूर्वक कार्य हो रहा है। इसमें एक के द्वारा दूसरे में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के लिए कहीं कोई अवसर नहीं है; फिर भी जो जिसके लिए अनुकूल प्रतीत होता है, उसका उसके साथ बननेवाले सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान करा दिया जाता है। परस्पर पूर्णतया अकर्तृत्व होते हुए भी प्रतिसमय होनेवाले द्रव्यों के परिणमन का ज्ञान कराने के लिए इनकी परिभाषा दोनों की मुख्यता से की गई है।

नष्ट करने-योग्य भावों को नष्ट करने की तथा प्रगट करने-योग्य भावों को प्रगट करने की जिम्मेदारी, जवाबदारी का ज्ञान कराकर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ की प्रेरणा देने के लिए इनकी परिभाषा आत्मा की मुख्यता से की गई है।

इनका वास्तविक निमित्त बताकर, अन्य पर की ओर से पूर्णतया दृष्टि हटाने के लिए; तथा ये पर निमित्तक भाव हैं, स्वाभाविक भाव नहीं होने से अपनत्व करने-योग्य नहीं है, इनमें अपनत्व का भाव मिथ्यात्व है – यह ज्ञान कराने के लिए इनकी परिभाषा कर्म की मुख्यता से की गई है।

इसप्रकार विशिष्ट प्रयोजन सिद्ध करने के लिए औपशमिक आदि भावों की तीन प्रकार से परिभाषाएँ दी गई हैं।

प्रश्न 20: एक साथ किन जीवों के कितने और कौन-कौन से भाव पाए जाते हैं ?

उत्तरः बहिरात्मा, विराधक, मिथ्यादृष्टि जीवों के एक साथ पारिणामिक, औदयिक और क्षायोपशमिक – ये तीन भाव पाए जाते हैं। अन्तरात्मा, साधक,

सम्यग्दृष्टि, छद्मस्थ जीवों के एक साथ पारिणामिक, औदयिक, क्षायोपशमिक तथा औपशमिक या क्षायिक – ये चार भाव पाए जाते हैं। उपशम श्रेणी का आरोहण करनेवाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के एक साथ पाँचों ही भाव पाए जाते हैं। सकल परमात्मामय वीतरागी, सर्वज्ञ अरहन्त परमेष्ठी के एक साथ पारिणामिक, औदयिक और क्षायिक – ये तीन भाव पाए जाते हैं। निकल परमात्मामय सर्वतः शुद्ध सिद्ध परमेष्ठी के एक साथ जीवत्वरूप पारिणामिक और क्षायिक – ये दो भाव पाए जाते हैं।

इसप्रकार विविध जीवों की अपेक्षा कम से कम दो से लेकर अधिक से अधिक पाँचों भाव एक साथ विद्यमान रह सकते हैं।

प्रश्न 21: इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तरः जीव के असाधारण भावमय पंच भाव वाले इस प्रकरण को समझने से हमें निम्नलिखित लाभ हैं –

1. पारिणामिक भाव को समझने से हमें यह ज्ञात होता है कि भले ही हमारी पर्याय ने इसे अपनत्व भाव से स्वीकार नहीं करने के कारण अनन्त दुःख भोगे हैं; तथापि यह उनसे पूर्ण अप्रभावित ही रहा है। इसका अनादि-अनन्त ज्ञानानन्द स्वभाव कभी नष्ट नहीं हुआ है। यदि अभी भी इसे अपनत्व रूप से स्वीकार किया जाता है तो जीवन ज्ञानानन्दमय निराकुल हो जाता है।

2. औदयिक भाव समझने से यह ज्ञात होता है कि यद्यपि ये रागादि भाव मेरे असाधारण भाव हैं; परन्तु ये कर्म सापेक्ष वैभाविक भाव हैं। ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। वास्तव में मैं इनका कर्ता, धर्ता, हर्ता, भोक्ता नहीं हूँ। इन्हें अपना मानने के कारण ही मैं दुखी हूँ। इनसे सतत भेद-विज्ञान करते हुए अपने परमपारिणामिक भाव में स्थिर होने से ये औदयिक भाव नष्ट होकर मैं पर्याय में भी सुखी हो जाता हूँ।

3. क्षायोपशमिक भाव समझने से यह ज्ञात होता है कि विकृत से विकृत दशा में भी स्वभाव की व्यक्तता का कभी भी पूर्णतया अभाव नहीं होता है। ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि गुणों का स्वाभाविक शुद्ध अंश पर्याय में सदा व्यक्त रहता है। इससे ही जीवत्व की पहिचान होती है तथा यही एकमात्र वह साधन है जिसका सदुपयोग कर हम पर्याय में भी पूर्ण शुद्धता व्यक्त कर सकते हैं।

4. क्षायिक भाव समझने से यह ज्ञात होता है कि यदिअपने परम पारिणामिक भाव में परिपूर्ण स्थिरता हुई तो सदा-सदा के लिए दुःखों का अभाव होकर परिपूर्ण

सुखमय दशा व्यक्त हो जाती है; अशुद्धता का सदा-सदा के लिए पूर्णतया अभाव हो जाता है; तथापि यह भी सुखमय होने से प्रगट करने की अपेक्षा पूर्ण उपादेय होने पर भी कर्म सापेक्ष होने के कारण आश्रय लेने के लिए हेय ही है। इसमें अपनत्व करना दुःखमय ही है, सुखमय नहीं। यह भी वैभाविक भाव ही है। यह अनादिकालीन भी तो नहीं है; स्वयं इसके आश्रय से यह उत्पन्न भी नहीं होता है। सदैव इसमें परत्व बुद्धि रखते हुए अपने परमपारिणामिक भाव में तन्मय होने से यह व्यक्त हो जाता है।

5. औपशमिक भाव समझने से यह ज्ञात होता है कि जब भी इन सभी पर्याय रूप भावों से भेदविज्ञान कर, अपने परमपारिणामिक भाव को अपनत्वरूप से स्वीकार कर उसमें क्षणिक स्थिरता होती है; तब सर्वप्रथम श्रद्धा संबंधी औपशमिक भाव रूप औपशमिक सम्यक्त्व प्रगट होता है। यही धर्म की/सुखी होने की/मोक्षमार्ग की प्रारम्भिक दशा है; अतः धर्म प्रगट करने के लिए सर्वप्रथम तत्त्व निर्णय पूर्वक स्व-पर संबंधी भेदविज्ञान के अभ्यास से श्रद्धा की विपरीतता को नष्ट करने की दिशा में सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए; तथा यह भी कर्म सापेक्ष, क्षणिक भाव है; त्रैकालिक अपना स्वभाव नहीं है; अतः इससे भी सतत भेदविज्ञान करते हुए अपने परमपारिणामिक भाव में अपनत्व पूर्वक स्थिर रहने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

सारांश यह है कि यदि हमें धर्म करना है, सुखी होना है तो पर सापेक्ष, पर्याय रूप इन औदयिक आदि सभी भावों से अपनत्व हटाकर मात्र परम पारिणामिक भावरूप अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय लेना चाहिए। इससे ही धर्म की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता होती है। सर्वस्व समर्पण पूर्वक अपने पुरुषार्थ को इस दिशा में सक्रिय कर अतीन्द्रिय आनन्दमय सम्यक् रत्नत्रय सम्पन्न जीवन हो जाना ही इस सम्पूर्ण प्रकरण को समझने का लाभ है। ●

पंचमभाव के स्मरण का हेतु

अंचितपंचमगतये पंचमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः।
संचितपंचाचाराः किंचनभावप्रपंचपरिहीणाः ॥५८॥

(ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप) पाँच आचारों से युक्त और किंचित् भी परिग्रहप्रपंच से सर्वथा रहित ऐसे विद्वान पूजनीय पंचमगति को प्राप्त करने के लिए पंचमभाव का स्मरण करते हैं। - **नियमसार कलश-५८**

पाठ 7

चार अभाव

(आचार्य समन्तभद्रस्वामी का संक्षिप्त परिचय 'वीतराग विज्ञान विवेचिका' के पृष्ठ 83-84 पर पढ़िए।)

प्रश्न 1: अभाव किसे कहते हैं ?

उत्तरः एक का दूसरे में नहीं होने को अभाव कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, गुण, पर्यायात्मक; उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक; स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावात्मक; अनन्त धर्मात्मक, गुणात्मक, स्वभावात्मक, अनेकान्तात्मक है। जिस योग्यता के कारण वह अन्य रूप नहीं होता है, द्रव्य आदि अन्य रूप नहीं होते हैं, उसे अभाव कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ भावाभावात्मक स्वभाव सम्पन्न है। जिसप्रकार स्व की अपेक्षा भाव/सद्भाव/होना/रहना पदार्थ का स्वरूप है; उसीप्रकार पर की अपेक्षा अभाव/असद्भाव/नहीं होना/नहीं रहना भी पदार्थ का स्वरूप है। आचार्य समन्तभद्रस्वामी अपने 'युक्त्यनुशासन' नामक ग्रन्थ में इसे इसप्रकार व्यक्त करते हैं – **''भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मा, भावान्तरं भाववदर्हतस्ते।** – हे अर्हन्त भगवान ! आपके अनुसार भावान्तर स्वभाववाला अभाव भी वस्तु का धर्म है।''

प्रश्न 2: अभाव धर्म को सर्वथा स्वीकार नहीं करने पर क्या समस्याएँ उपस्थित होंगीं ?

उत्तरः अभाव धर्म को सर्वथा स्वीकार नहीं करने पर अर्थात् जैसे वस्तु में एक भाव नामक धर्म विद्यमान होने से वस्तु सदा अपने स्वभावरूप बनी रहती है; उसीप्रकार एक अभाव नामक धर्म विद्यमान होने से वस्तु सदैव अन्य स्वभावरूप नहीं होती है – ऐसा स्वीकार नहीं करने पर वस्तु-व्यवस्था और विश्व-व्यवस्था सभी कुछ खण्डित हो जाएगी। सभी पर्यायें एक-दूसरे रूप हो जाने से वे अनादि-अनन्त हो जाएंगीं। सभी द्रव्य सभी रूप हो जाएंगे। उनका अपना कोई पृथक् स्वरूप नहीं रह सकेगा। जाति-अपेक्षा छह और संख्या-अपेक्षा अनन्तानन्त द्रव्य नहीं बन सकेंगे। उनका उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक स्वरूप नहीं बन सकेगा – इत्यादि अनेक समस्याएं

उपस्थित होंगीं। आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने इसे 'आप्तमीमांसा' में इसप्रकार व्यक्त किया है –

''भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात्।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ।।

एकान्त से पदार्थ को मात्र भावरूप मानने पर अभावधर्म का निषेध हो जाने से सभी सबरूप हो जाएंगे, प्रत्येक कार्य अनादि हो जाएगा, प्रत्येक कार्य अनन्त हो जाएगा, किसी का कुछ भी सुनिश्चित स्वरूप नहीं रहेगा। हे जिनेन्द्र देव ! आपको यह मान्य नहीं है।''

इसप्रकार अभाव धर्म का पूर्णतया निषेध करने पर लौकिक-अलौकिक कुछ भी व्यवस्था सम्भव नहीं हो सकेगी। वस्तु का स्वरूप भावाभावात्मक होने से वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान ने वस्तु के कथंचित् भाव धर्म और कथंचित् अभाव धर्म का निरूपण किया है; सर्वथा नहीं।

प्रश्न 3: अभाव के मुख्य भेद बताते हुए प्रागभाव का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: मुख्यतया अभाव के चार भेद हैं – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव।

प्रागभाव – ''कार्यस्यात्मलाभात्प्रागभवनं प्रागभावः – आत्म-लाभ (उत्पन्न) होने से पूर्व कार्य का नहीं होना प्रागभाव है।'' अथवा **''यदभावे हि नियमतः कार्यस्योत्पत्तिः सः प्रागभावः –** जिसका अभाव होने पर नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है, वह प्रागभाव है।''

तात्पर्य यह है कि वर्तमान पर्याय का पूर्व की सभी पर्यायों में नहीं होना प्रागभाव है। 'प्रागभाव' प्राक् और अभाव – इन दो शब्दों से मिलकर बना है। प्राक्=पहले में, अभाव=नहीं होना; अर्थात् अभी की पर्याय का पहले की पर्याय में नहीं होना, प्रागभाव है। जैसे दही की पूर्व पर्याय दूध है। दूध में दही का नहीं होना प्रागभाव है; अन्तरात्मा पर्याय का बहिरात्मारूप पूर्व पर्याय में नहीं होना प्रागभाव है; सर्वज्ञ पर्याय का छद्मस्थरूप पूर्व पर्याय में नहीं होना प्रागभाव है; सिद्ध पर्याय का अरहन्तरूप पूर्व पर्याय में नहीं होना प्रागभाव है इत्यादि।

प्रश्न 4: प्रागभाव नहीं मानने से होनेवाली हानिआँ स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: यदि हम प्रागभाव को स्वीकार नहीं करेंगे तो वर्तमानकालीन प्रत्येक

पर्याय को अनादिकालीन स्थाई मानना पड़ेगा; परिवर्तन के लिए कहीं, कोई, किसी भी प्रकार की सम्भावना नहीं होने से पुरुषार्थ कुण्ठित हो जाएगा; किसी भी जीव की चारगति, चौरासी लाख योनिआँ, मोह, राग, द्वेष आदि असंख्यात लोकप्रमाण भेदवाले विकारी भाव, जीव समास, पंचपरावर्तन आदि कुछ भी विविधताएं सिद्ध नहीं हो सकेंगीं। प्रथमानुयोग में वर्णित पूर्व भवों की चर्चा; चरणानुयोग की उपदेश शैली, देशना लब्धि आदि; करणानुयोग में वर्णित युग परिवर्तन आदि की चर्चाएं; द्रव्यानुयोग में वर्णित वस्तु का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय स्वरूप, ज्ञान की हीनाधिकता, जाति-स्मरण आदि किसी भी प्रकार का परिवर्तन प्रागभाव की अस्वीकृति में सम्भव नहीं हो सकेगा।

इसके अभाव में पुरातत्त्व विभाग, ऐतिहासिक साक्ष्य, शिलालेख, खण्डहर आदि; भूतकालीन सभ्यता, संस्कृति आदि कुछ भी स्वीकार कर पाना सम्भव नहीं हो सकेगा।

निष्कर्ष यह है कि प्रागभाव को नहीं मानने पर लौकिक-अलौकिक किसी भी प्रकार का भूतकालीन परिवर्तन स्वीकार करना सम्भव नहीं होगा। सभी की वर्तमान दशा को ही अनादिकालीन मानना पड़ेगा; जो कि वस्तु-व्यवस्था के विरुद्ध है।

प्रश्न 5: प्रागभाव मानने से होनेवाले लाभ स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः प्रागभाव मानने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं –

1. वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्यायों में अभाव होने के कारण अनादि से मिथ्यात्व आदि महापाप करनेवाला होने पर भी यदि मैं अभी अपने भगवान आत्मा को समझकर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करूँ; तो सम्यक् रत्नत्रय सम्पन्न धर्ममय दशा प्रगट कर सकता हूँ – यह समझ में आ जाने पर 'मैं पापी हूँ, मैं कैसे तिर सकता हूँ?' इत्यादि हीन भावना निकलकर, सम्यक् पुरुषार्थ जागृत होता है।

2. इसी समझ के बल पर अन्य को भी दीन-हीन-तुच्छ देखने का भाव समाप्त हो जाता है।

3. इसी समझ के बल पर पूर्व में किए गए अच्छे कामों को लेकर घमण्ड करने का परिणाम भी नष्ट हो जाता है।

4. इसी समझ के बल पर अन्य के भी पूर्व कृत अच्छे कार्यों को देखकर वर्तमान की दुष्प्रवृत्तिओं को पुष्ट कर गृहीत मिथ्यात्व के सेवन का भाव समाप्त हो जाता है।

5. प्रागभाव के कारण जब मेरी ही पूर्व पर्यायें वर्तमान पर्याय का कुछ नहीं कर सकती हैं; तब अन्य द्रव्य या पर्यायें उसका कुछ भी अच्छा-बुरा कैसे कर सकेंगीं? – यह समझ में आ जाने पर परलक्षी पराधीन प्रवृत्ति नष्ट होकर जीवन स्वतंत्र, स्वाधीन, निर्भय हो जाता है।

6. सभी पर्यायें एकसमयवर्ती हैं तथा उनका सभी पूर्व पर्यायों में अभाव है – यह समझ में आ जाने से स्वयं को और अन्य को पर्यायरूप से देखने का भाव ही समाप्त हो जाता है; जिससे पर्याय-मूढ़ताजन्य राग-द्वेष नष्ट होकर जीवन सहज समतामय वीतरागता सम्पन्न हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ प्रागभाव को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न 6: प्रध्वंसाभाव का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः "कार्यस्यात्मलाभादनन्तराभवनं प्रध्वंसाभावः – आत्मलाभ (उत्पत्ति) होने के बाद कार्य का नहीं होना/ रहना प्रध्वंसाभाव है।" **"यद्भावे कार्यस्य नियता विपत्तिः स प्रध्वंसाभावः** – जिसके होने पर नियम से कार्य का नाश होता है, वह प्रध्वंसाभाव है।"

तात्पर्य यह है कि वर्तमान पर्याय का आगामी पर्याय में नहीं होना, प्रध्वंसाभाव है। 'प्रध्वंसाभाव' प्र, ध्वंस और अभाव – इन तीन शब्दों से मिलकर बना है। प्र=प्रकृष्टरूप से, ध्वंस=नाश में, अभाव=नहीं होना; अर्थात् प्रकृष्ट रूप से नष्ट होनेवाली इस वर्तमान पर्याय का आगामी सभी पर्यायों में नहीं होना/रहना प्रध्वंसाभाव है। जैसे आगामी पर्यायरूप छाँछ में वर्तमान दही का अभाव प्रध्वंसाभाव है। अरहन्त पर्याय में सिद्ध पर्याय का अभाव, छद्मस्थ पर्याय में सर्वज्ञ पर्याय का अभाव, अन्तरात्मा दशा में परमात्मा दशा का अभाव प्रध्वंसाभाव है इत्यादि।

प्रश्न 7: प्रध्वंसाभाव को नहीं मानने पर क्या-क्या समस्याएं उपस्थित होंगीं?

उत्तरः प्रध्वंसाभाव को नहीं मानने पर प्रत्येक कार्य अनन्तकालीन स्थाई हो जाएगा; गरीब सदा गरीब रहेगा, धनी सदा धनी रहेगा; मूर्ख सदा मूर्ख, विद्वान सदा विद्वान रहेगा; अरे! यह सब तो दूर ही रहो; निगोदिया सदा निगोदिया ही रहेगा; हम भी अनन्तकाल पर्यन्त निगोद में ही पड़े रहते। यदि इस अभाव को नहीं मानेंगे तो किसी भी जीव की चारगति, चौरासी लाख योनिआँ सिद्ध नहीं होंगीं; गुणस्थान, जीवसमास, पंचपरावर्तन आदि भी सिद्ध नहीं होंगे; अशुभ, शुभ, शुद्ध भाव सिद्ध नहीं होंगे। बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मापना सिद्ध नहीं होगा। प्रथमानुयोग में

वर्णित आगामी भवों की चर्चा; करणानुयोग में वर्णित युग-परिवर्तन आदि की चर्चाएं; चरणानुयोग में वर्णित उपदेश शैली, देशनालब्धि, व्रत, शील, संयम आदि की चर्चाएं; द्रव्यानुयोग में वर्णित वस्तु का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय स्वरूप, ज्ञान की हीनाधिकता, भेदविज्ञान, आत्मानुभव आदि की चर्चाएं इत्यादि किसी भी प्रकार की परिवर्तनवाली चर्चाएं प्रध्वंसाभाव को अस्वीकार करने पर सम्भव नहीं हो सकेंगीं।

लौकिक शिक्षण, वैज्ञानिक शोध-खोज, उद्योग-धन्धे, खेती आदि किसी भी प्रकार का परिवर्तन संबंधी कार्य प्रध्वंसाभाव को नहीं मानने पर सम्भव नहीं हो सकेगा।

निष्कर्ष यह है कि प्रध्वंसाभाव को नहीं मानने पर लौकिक-अलौकिक किसी भी प्रकार का भविष्यकालीन परिवर्तन स्वीकार करना सम्भव नहीं होगा। सभी की वर्तमान दशा को ही अनन्तकालिक मानना पड़ेगा; पुरुषार्थ पूर्णतया कुण्ठित हो जाएगा; जो कि वस्तु-व्यवस्था के विरुद्ध है।

प्रश्न 8: प्रध्वंसाभाव को मानने से होनेवाले लाभ स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: प्रध्वंसाभाव को मानने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं –

1. वर्तमान में कैसी भी दीन-हीन दशा क्यों न हो, उसका आगामी पर्याय में अभाव है – यह समझ में आ जाने पर पामरता नष्ट होकर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करने का भाव जागृत होता है।

2. इसी के बल पर अन्य को भी उसके गलत कार्यों से तुच्छ मानने का भाव समाप्त हो जाता है; क्योंकि वह भी अच्छा हो सकता है।

3. अपनी अच्छी पर्यायों का भी आगामी पर्यायों में प्रध्वंसाभावरूप अभाव है – यह समझ में आ जाने पर उनसे स्वयं को बड़ा मानने का भाव समाप्त होकर, उनके प्रति सहज समताभाव जागृत होता है तथा उनसे भी सतत भेदविज्ञान करते हुए अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करने का प्रयास चलता रहता है।

4. इसी समझ के बल पर अन्य की भी वर्तमान में सत्प्रवृत्तिओं को देखकर, उनके प्रति भी सहज समता ही रहती है। वर्तमान में यथायोग्य विनय आदि व्यवहार करने पर भी भावी योजनाओं में उलझकर गृहीत मिथ्यात्व पुष्ट करने का भाव समाप्त हो जाता है।

5. जब हमारी ही वर्तमान पर्याय प्रध्वंसाभाव के कारण हमारी आगामी पर्याय का कुछ भी नहीं कर सकती है; तब फिर अन्य कोई हमारा क्या कर सकता है?

यह समझ में आ जाने पर निर्भयता, निश्चिंतता जागृत होकर पराधीनवृत्ति नष्ट होती है और स्वतंत्रता, स्वाधीनता पूर्वक अपनी जिम्मेदारी समझते हुए अपना अच्छा करने के लिए आत्मलीनता का पुरुषार्थ जागृत होता है।

6. सभी पर्यायें क्षणवर्ती हैं, उनका सभी आगामी पर्यायों में अभाव है – यह समझ में आ जाने पर अन्य को या स्वयं को पर्यायरूप से देखने का भाव ही समाप्त हो जाता है; जिससे पर्याय-मूढ़ताजन्य राग-द्वेष नष्ट होकर जीवन सहज समतामय वीतरागता सम्पन्न हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रध्वंसाभाव को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न 9: अन्योन्याभाव का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

"स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोहः – स्वभावान्तर से स्वभाव की पृथक्ता अन्यापोह है।"

वर्तमानकालीन एक पुद्गल स्कन्ध का वर्तमानकालीन दूसरे पुद्गल स्कन्ध में नहीं होना अन्योन्याभाव है। इतरेतराभाव, अन्यापोह इत्यादि इसके पर्यायवाची नाम हैं। अन्यः, अन्य और अभाव – इन तीन शब्दों से मिलकर 'अन्योन्याभाव' शब्द बना है; अन्य=दूसरे का, अन्य=दूसरे में, अभाव=नहीं होना; दूसरे का दूसरे में नहीं होना अन्योन्याभाव है। जैसे घट का पट में अभाव, चटाई का पलंग में अभाव, आहार का शरीर में अभाव, आहार वर्गणा का कार्मण वर्गणा में अभाव इत्यादि।

यह अभाव एकमात्र वर्तमान कालीन पुद्गल स्कन्धों में ही घटित होता है। अन्य द्रव्य या पर्यायों में नहीं। पुद्गल स्कन्धों की अपनी एक विशेषता है वह यह कि यद्यपि वर्तमान कालीन विविध स्कन्ध एक-दूसरे रूप नहीं होने से, एक-दूसरे का कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं हैं; तथापि वे कालान्तर में अन्य-अन्यरूप हो सकते हैं। जैसे वर्तमान कालीन वस्त्र और बर्तन पृथक्-पृथक् स्कन्ध होने से एक-दूसरे का कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं हैं; तथापि कालान्तर में वस्त्रगत परमाणु बर्तन हो सकते हैं और बर्तनगत परमाणु वस्त्र हो सकते हैं अर्थात् वस्त्र-बर्तन मात्र अभी पृथक्-पृथक् हैं, त्रैकालिक नहीं; इसे ही अन्योन्याभाव कहते हैं। यह विशेषता मात्र पुद्गलस्कन्ध में ही होने से यह अन्योन्याभाव भी मात्र उनमें ही घटित होता है। इसे हम इन शब्दों में भी कह सकते हैं कि पुद्गल की वर्तमान कालीन विभाव पर्यायों का पारस्परिक अभाव अन्योन्याभाव है।

प्रश्न 10: अन्योन्याभाव को नहीं मानने पर उत्पन्न होनेवाली समस्याएं स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: अन्योन्याभाव को नहीं मानने पर पुद्गल-स्कन्धों की विविधता नहीं बन सकेगी। करणानुयोग में वर्णित कर्म-नोकर्म के भेद-प्रभेद, 23 प्रकार की वर्गणाएं, उनके विविध कार्य, छह द्रव्य-लेश्याएं, कुल-कोटी आदि किसी भी प्रकार के स्कन्ध की अपेक्षा किए गए भेद-प्रभेद सम्भव नहीं होंगे। पर्वत, भूभाग, क्षेत्र, कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालय, नदी, मेरु आदि की विविधता भी सम्भव नहीं हो सकेगी। स्वर्ग-नरक आदि के भेद-प्रभेद भी नहीं बनेंगे। चरणानुयोग में वर्णित भक्ष्य-अभक्ष्य, पदार्थों की मर्यादाएं, चलितरस-रूप, रस-परित्याग, धान्य त्याग आदि मर्यादाएं भी नहीं बन सकेंगीं।

लोक-प्रचलित विविध व्यंजन, विविध उद्योग-धन्धे, बैठने-उठने आदि के विविध साधन, विविध वस्त्र-बर्तन, विविध खेल-खिलौने, विविध वैज्ञानिक शोध-खोज, भौतिक संसाधन इत्यादि सभी पौद्गलिक स्कन्धों की पृथक्ता अन्योन्याभाव को अमान्य करने पर अमान्य करनी होगी।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अन्योन्याभाव को नहीं मानने पर वर्तमान में दिखाई देनेवाले सभी पुद्गल स्कन्धों को तथा जिनागम में प्रतिपादित विविध पुद्गल स्कन्धों को एक मानना होगा; जो कि वस्तु-व्यवस्था के विरुद्ध अप्रयोगात्मक, मिथ्या मान्यता है।

प्रश्न 11: अन्योन्याभाव को समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर: अन्योन्याभाव को समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं –

1. जब वर्तमानकालीन एक पुद्गल स्कन्ध, समकालीन दूसरे पुद्गल स्कन्ध का कुछ भी नहीं कर सकता है; आँख नाक का काम नहीं कर सकती है; नाक, कान का काम नहीं कर सकती है; पुण्य कर्म, पाप कर्म का कार्य नहीं कर सकते हैं; तब फिर वे आत्मा का कुछ भी भला-बुरा कैसे कर सकते हैं? – यह समझ में आ जाने पर 'कर्म हमें परेशान करते हैं, कर्मों के कारण हम धर्म नहीं कर पा रहे हैं', इत्यादि विपरीत मान्यताएं नष्ट होकर अपने भले-बुरे की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक स्वरूप-स्थिरता करके अपना अच्छा करने का भाव जागृत होता है।

2. अन्योन्याभाव होने से एक स्कन्ध दूसरे स्कन्ध का कुछ भी करने में समर्थ ही नहीं है; यह समझ में आ जाने से शारीरिक रोग नष्ट करने के लिए, शरीर को पुष्ट करने के लिए अशुद्ध औषधिओं, अशुद्ध/अभक्ष्य पदार्थों के सेवन का भाव नष्ट हो जाता है।

3. इसीप्रकार पदार्थों में मिलावट आदि तथा धन आदि पृथक्-पृथक् स्कन्ध होने से मिलावट से धन/कमाई का कुछ भी संबंध नहीं है – यह समझ में आ जाने पर अन्याय, अनीति, असदाचार आदि दुष्प्रवृत्तिआँ नष्ट होकर जीवन न्याय, नीति, सदाचार सम्पन्न हो जाता है।

4. इसी अन्योन्याभाव की समझ के बल पर सभी स्कन्धों की स्वतन्त्रता का ज्ञान होने से पर-कर्तृत्व का भाव नष्ट हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न 12: अत्यन्ताभाव का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः "कालत्रयापेक्षाभावोऽत्यन्ताभावः – तीन काल की अपेक्षा नहीं होना, अत्यन्ताभाव है।" द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावात्मक एक वस्तु का वैसी ही अन्य वस्तु में नहीं होना अत्यन्ताभाव है।

'अत्यन्ताभाव' शब्द अत्यन्त और अभाव – इन दो शब्दों से मिलकर बना है। अत्यन्त=पूर्णतया/सर्वथा, अभाव=नहीं होना; अर्थात् एक वस्तु का दूसरी वस्तु में पूर्णरूप से कभी भी नहीं होने को अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे एक जीव का अन्य जीव में नहीं होना, जीव का पुद्गल आदि अन्य द्रव्यों में नहीं होना, एक परमाणु का दूसरे परमाणु में नहीं होना, पुद्गल का जीवादि अन्य द्रव्यों में नहीं होना अत्यन्ताभाव है।

प्रश्न 13: अत्यन्ताभाव को नहीं मानने पर आनेवाली समस्याओं को स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः अत्यन्ताभाव को नहीं मानने पर सब द्रव्य सब रूप हो जाएंगे; किसी का कोई अपना स्वरूप नहीं रहेगा। जाति-अपेक्षा से छह और संख्या-अपेक्षा से अनन्तानन्त द्रव्यों की सिद्धि नहीं हो सकेगी। ऐसा होने पर संसार और सिद्ध दशा सिद्ध नहीं होगी, आत्मा-परमात्मा सिद्ध नहीं होंगे; तब फिर धर्म-कर्म की, उपदेश आदि की, सदाचरण आदि की, भेदविज्ञान आदि की, आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ आदि की आवश्यकता ही सिद्ध नहीं हो सकेगी। जड़ और चेतन पृथक्-पृथक् सत्ताएं

सिद्ध नहीं होने पर चार गति, चौरासी लाख योनिआँ, गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमास आदि कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

अत्यन्ताभाव नहीं मानने पर जड़ और चेतन की पृथक्-पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होने से वैज्ञानिक शोध-खोज के लिए कहीं कोई अवसर नहीं रहेगा। जन्म, जरा, रोग, मरण आदि के लिए अवसर नहीं रहने से डॉक्टर, मेडीसन आदि भी अनावश्यक हो जाएंगे।

निष्कर्ष यह है कि अत्यन्ताभाव नहीं मानने पर वस्तु की स्व-स्वरूप-सम्पन्न सत्ता सिद्ध नहीं होने से लौकिक तथा अलौकिक उन्नति आदि के लिए कहीं कोई अवसर शेष नहीं रह जाने के कारण पुरुषार्थ पूर्णतया कुण्ठित हो जाएगा; जो कि वस्तु-व्यवस्था के पूर्णतया विरुद्ध है।

प्रश्न 14: अत्यन्ताभाव को समझने से होनेवाले लाभों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः अत्यन्ताभाव को समझने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं –

1. सभी द्रव्यों में पारस्परिक अत्यन्ताभाव होने से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता, धर्ता, हर्ता नहीं है – यह समझ में आ जाने पर कोई भला या बुरा कर देगा – इस मान्यता को लेकर होनेवाली परमुखापेक्षी या भय-वृत्ति नष्ट होकर जीवन स्वतंत्र, स्वाधीन, निर्भय हो जाता है।

2. इसी समझ के बल पर पर-कर्तृत्व का भाव भी नष्ट हो जाता है; जिससे जीवन सहज निराकुल, निश्चिंत, तनावमुक्त, निर्भार हो जाता है।

3. इसी समझ के बल पर 'अनुकूल संयोग आदि सुख के कारण हैं' – यह मान्यता नष्ट हो जाने से उन्हें एकत्रित करने का भाव समाप्त हो जाता है; जिससे जीवन सहज ही आरम्भ-परिग्रहमय अशुद्ध भावों से रहित हो जाता है।

4. इसी समझ के बल पर 'हम स्वयं ही अपने दोषों/दुःखों के जिम्मेदार हैं, कोई कर्म आदि या अन्य पर पदार्थ नहीं' – यह सत्य स्वीकृत हो जाने से अपने दोषों को नष्ट करने की अपनी जिम्मेदारी समझकर आत्मोन्मुखी वृत्ति द्वारा उन्हें नष्ट करने की दिशा में पुरुषार्थरत हो जाते हैं।

5. इसी समझ के बल पर स्व-पर का यथार्थ भेदविज्ञान जागृत हो जाने से उपयोग सहज ही पर से हटकर स्वरूप-स्थिर हो जाता है; जिससे जीवन सहज ही सम्यक् रत्नत्रय सम्पन्न अतीन्द्रिय आनन्दमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ अत्यन्ताभाव को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न 15: चारों अभावों को समझने से होनेवाले लाभों का अत्यंत संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

उत्तरः इन चारों अभावों को समझने से स्वाधीनता का भाव जागृत होता है, पर से आशा की चाह/पराधीनवृत्ति समाप्त हो जाती है, भय का भाव नष्ट होकर निर्भय/निश्चिन्तता व्यक्त होती है, भूतकाल और वर्तमान कालीन कमजोरी और विकार देखकर उत्पन्न होनेवाली दीनता-हीनता-पामरता नष्ट होकर स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ जागृत होता है, पर्यायमात्र से दृष्टि हटकर अपने शाश्वत ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा में स्थिर होने से जीवन सहज सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न अतीन्द्रिय आनन्दमय हो जाता है; इसकी ही पूर्णता में संसार से मुक्त हो सिद्ध दशा की प्राप्ति हो जाती है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ अभावों को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न 16: प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः दोनों अभाव होने पर भी इन दोनों में पारस्परिक अन्तर इसप्रकार है –

प्रागभाव	प्रध्वंसाभाव
1. वर्तमान पर्याय का भूतकालीन पर्याय में अभाव प्रागभाव है।	वर्तमान पर्याय का भविष्यकालीन पर्याय में अभाव प्रध्वंसाभाव है।
2. इसे स्वीकार नहीं करने पर प्रत्येक पर्याय को अनादि की स्थाई मानना पड़ेगा।	इसे स्वीकार नहीं करने पर प्रत्येक पर्याय को अनन्तकाल पर्यन्त स्थाई मानना पड़ेगा।
3. इसे नहीं मानने पर अनादि का परिवर्तन अवरुद्ध होता है।	इसे नहीं मानने पर अनन्तकालीन परिवर्तन अवरुद्ध होता है।
4. प्रागभाव वर्तमान पर्याय को भूत-कालीन पर्यायों से पूर्ण निरपेक्ष, स्वतन्त्र सिद्ध करता है।	प्रध्वंसाभाव वर्तमान पर्याय को भविष्य-कालीन पर्यायों से पूर्ण निरपेक्ष स्वतन्त्र सिद्ध करता है।

इत्यादि अनेक प्रकार से दोनों में पारस्परिक अन्तर है।

प्रश्न 17: अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: दोनों अभाव होने पर भी इन दोनों में पारस्परिक अन्तर इसप्रकार है –

अन्योन्याभाव	अत्यन्ताभाव
1. एक वर्तमान पुद्गल स्कन्ध का दूसरे वर्तमान पुद्गल स्कन्ध में नहीं होना, अन्योन्याभाव है।	एक स्वचतुष्टयात्मक द्रव्य का दूसरे स्वचतुष्टयात्मक द्रव्य में नहीं होना, अत्यन्ताभाव है।
2. यह मात्र वर्तमान कालीन पुद्गल स्कन्धों में घटित होता है।	यह सभी द्रव्यों में सदा घटित होता है।
3. यह त्रैकालिक नहीं है।	यह त्रैकालिक है।
4. इससे पुद्गल स्कन्धों की परस्पर निरपेक्ष, स्वतन्त्रता सिद्ध होती है।	इससे सभी द्रव्यों की परस्पर निरपेक्ष, स्वतंत्र सत्ता सिद्ध होती है।
5. इसे न मानने पर सभी पुद्गल-स्कन्ध मिलकर एक हो जाएंगे; जिससे भेद-प्रभेदमय कर्म सिद्धान्त, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि की व्यवस्था नहीं बन सकेगी।	इसे न मानने पर सभी द्रव्य मिलकर एक हो जाने से किसी का कोई अपना सुनिश्चित स्वरूप सिद्ध नहीं हो पाने के कारण स्व-पर का भेदविज्ञान आदि सम्भव नहीं हो सकेगा।
6. यह मात्र पुद्गल की वर्तमान कालीन विभाव पर्यायों में घटित होता है।	यह पृथक्-पृथक् सभी द्रव्यों की स्वभाव-विभाव सभी पर्यायों में घटित हो जाता है।

इत्यादि अनेक प्रकार से दोनों में पारस्परिक अन्तर है।

प्रश्न 18: 'ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है' – इस कथन की अभावों के संदर्भ में समीक्षा कीजिए।

उत्तर: ज्ञानावरण कर्म का क्षय पौद्गलिक कार्मण वर्गणा का परिणमन है; केवलज्ञान जीव के ज्ञानगुण का पूर्ण विकसित परिणमन है। पुद्गल कर्म और जीव – इन दोनों में अत्यन्ताभाव होने से, दोनों ही एक-दूसरे से पूर्ण निरपेक्ष, परिपूर्ण सत् हैं। दोनों में अपना-अपना कार्य अपनी-अपनी परिपूर्ण स्वतन्त्र योग्यता से होता है; एक-दूसरे के कारण नहीं। इसप्रकार ज्ञानावरण का क्षय उसकी अपनी

स्वतन्त्र योग्यता से हुआ है तथा जीव को केवलज्ञान की प्राप्ति जीव की अपनी स्वतन्त्र योग्यता से हुई है। एक-दूसरे के कारण एक-दूसरे में रंचमात्र कार्य नहीं हुआ है। – यह अभाव के सन्दर्भ में उपर्युक्त कथन की समीक्षा है।

प्रश्न 19: 'कर्म के उदय से शरीर में रोग होता है' – इस कथन की अभावों के सन्दर्भ में समीक्षा कीजिए।

उत्तरः कर्म का उदय पौद्गलिक कार्मण वर्गणामय स्कन्ध का परिणमन है और शरीर का रोग पौद्गलिक आहार वर्गणामय स्कन्ध का परिणमन है। इन दोनों में अन्योन्याभाव है; अतः इन दोनों का परिणमन एक-दूसरे से पूर्ण निरपेक्ष, स्वतन्त्रतया अपनी-अपनी योग्यता से हुआ है। कर्म का उदय पूर्वबद्ध कर्म रूप कार्मण वर्गणा का स्वतन्त्र परिणमन है और शरीर में रोग होना आहार वर्गणा का स्वतन्त्र परिणमन है। इसप्रकार अन्योन्याभाव के कारण अपनी-अपनी स्वतन्त्र योग्यता से ही अपने- अपने में कार्य हुआ है; एक-दूसरे के कारण एक-दूसरे का कार्य नहीं हुआ है। – यह अभाव के सन्दर्भ में उपर्युक्त कथन की समीक्षा है।

प्रश्न 20: 'यह आदमी चोर है; क्योंकि इसने पहले स्कूल में पढ़ते समय मेरी पुस्तक चुरा ली थी' – इस कथन की अभाव के सन्दर्भ में समीक्षा कीजिए।

उत्तरः इस आदमी की पहले स्कूल में पढ़ते समय पुस्तक चुराने रूप पर्याय में इस वर्तमान पर्याय के अभावरूप प्रागभाव है; जिसके कारण पहले की पर्याय अभी की पर्याय से पूर्ण निरपेक्ष, स्वतन्त्रतया व्ययरूप है तथा अभी की पर्याय पहले की पर्याय से पूर्ण निरपेक्ष, स्वतन्त्रतया उत्पादरूप है। जो पर्याय अभी है ही नहीं तथा जिसमें अभी प्रागभाव है, वह अभी की पर्याय को अपनी दुष्प्रवृत्ति से चोर कैसे बना सकती है? यदि इस व्यक्ति ने पहले पढ़ते समय पुस्तक चुराई थी तो पर से पूर्ण निरपेक्ष उस समय की अपनी स्वतन्त्र योग्यता से और यदि यह व्यक्ति अभी चोर है तो पर से पूर्ण निरपेक्ष इस समय की अपनी स्वतन्त्र योग्यता से है। अभी का पहले की चोर पर्याय में प्रागभाव होने से, पहले की चोर पर्याय के कारण अभी यह आदमी चोर नहीं है। यदि यह चोर है तो इस समय की अपनी स्वतन्त्र योग्यता से चोर है – यह अभावों के सन्दर्भ में इस कथन की समीक्षा है।

प्रश्न 21: ज्ञानावरण कर्म और केवलज्ञान में अत्यन्ताभाव तथा कर्म और शरीर में अन्योन्याभाव होने से यदि ये कार्य परस्पर पूर्ण निरपेक्ष, पूर्णतया अपनी-अपनी स्वतन्त्र योग्यता से हुए हैं तो जिनागम में उपर्युक्त कथन क्यों मिलते हैं ?

उत्तरः इस असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में निरंतर परिणमनशील तथा गतिमान अनंतानंत जीव-अजीव द्रव्य विद्यमान होने से उनमें परस्पर घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी सहज बनता रहता है। जीव के परिणाम और पुद्गल कर्म का भी ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। अपनी-अपनी योग्यता से एक ही समय दोनों में कार्य होते रहने से जिस पर अनुकूलता का आरोप आता है, उसे उपचार से उसका कर्ता कह दिया जाता है।

इसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध की मुख्यता से वास्तविक निमित्त का ज्ञान कराने के लिए असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान हुआ, कर्म के उदय से शरीर में रोग हुआ इत्यादि।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान करानें के लिए जिनागम में ऐसे अनेकांनेक कथन उपलब्ध हैं; परन्तु वे सभी कालप्रत्यासत्ति की मुख्यता से (एक समय में घटित हुई घटनाओं की अपेक्षा) किए गए औपचारिक कथन समझना चाहिए। स्वयं से अभिन्न और पर से भिन्न अनन्त धर्मात्मक वस्तु की स्वतन्त्र शाश्वत सत्ता सिद्ध करनेवाले भाव-अभाव धर्म की ओर से देखने पर यह ज्ञात होता है कि वास्तव में कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य का/उसके कार्य का रंचमात्र कर्ता, हर्ता, धर्ता नहीं है। यह वस्तु-स्वातन्त्र्य ही मोह, राग, द्वेषादि विकारी भावों को नष्ट करने का; अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवन जीने के लिए विश्व-व्यवस्था, वस्तु-व्यवस्था को समझने का अनुपम वरदान है।

प्रश्न 22: निम्नलिखित जोड़ों में सहेतुक पारस्परिक अभाव को स्पष्ट कीजिए।

क. इच्छा और भाषा, **ख.** चश्मा और ज्ञान, **ग.** शरीर और वस्त्र, **घ.** शरीर और जीव।

उत्तरः निम्नलिखित जोड़ों में पारस्परिक अभाव इसप्रकार है –

क. इच्छा और भाषा – इच्छा जीव द्रव्य के चारित्र गुण की विकृत पर्याय होने से और भाषा भाषा वर्गणारूप पौद्गलिक स्कन्ध का परिणमन होने से इन दोनों में पारस्परिक अत्यन्ताभाव है।

ख. चश्मा और ज्ञान – चश्मा आहारवर्गणारूप पौद्गलिक स्कन्ध का परिणमन होने से तथा ज्ञान जीव के ज्ञानगुण की पर्याय होने से इन दोनों में पारस्परिक अत्यन्ताभाव है।

ग. शरीर और वस्त्र – शरीर आहार वर्गणारूप पुद्गल का एक स्वतन्त्र स्कन्ध होने से तथा वस्त्र आहार वर्गणारूप पुद्गल का एक स्वतन्त्र स्कन्ध होने से इन दोनों में पारस्परिक अन्योन्याभाव है।

घ. शरीर और जीव – शरीर आहार वर्गणारूप पौद्गलिक स्कन्ध का स्वतन्त्र परिणमन होने से तथा जीव स्वचतुष्टयात्मक सत्ता सम्पन्न एक स्वतन्त्र पृथक् द्रव्य होने से इन दोनों में पास्परिक अत्यन्ताभाव है।

प्रश्न 23: इन चार अभावों के अतिरिक्त क्या और भी कोई अभाव होते हैं?

उत्तर: जिनागम में इन चार अभावों के अतिरिक्त कुछ अन्य अभावों का भी वर्णन उपलब्ध है। वह इसप्रकार –

1. तदभाव/अतद्भाव/स्वरूपाभाव – आचार्य कुन्दकुन्ददेव तदभाव को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार में गाथा 106 से 108 पर्यन्त लिखते हैं।

"पविभत्तपदेसत्तं, पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो, ण तब्भवं होदि कधमेगं।।106।।
सद्दव्वं सच्च गुणो, सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो, सो तदभावो अतब्भावो।।107।।
जं दव्वं तं ण गुणो, जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो, णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो।।108।।

विभक्त प्रदेशत्व (जिनके प्रदेश पृथक्-पृथक् हैं वह) पृथक्त्व और अतद्भाव (उस रूप नहीं होना) अन्यत्व है। जो उसरूप नहीं हो, वह एक कैसे हो सकता है? ऐसा वीर का शासन/उपदेश है।

सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय – इसप्रकार सत् का विस्तार है। (उनमें परस्पर) जो वास्तव में 'उसका अभाव/उस रूप होने का अभाव' है, वह तद्अभाव या अतद्भाव है।

(संज्ञा, संख्या, लक्षण आदि की अपेक्षा) जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है और जो गुण है वह द्रव्य नहीं है – यह अतद्भाव है; सर्वथा अभाव वह अतद्भाव नहीं है – ऐसा (भगवान ने) बताया है।"

इन गाथाओं में पृथक्ता और अन्यता का भेद स्पष्ट करते हुए तदभाव की चर्चा की गई है। जिनके प्रदेश पृथक्-पृथक् होते हैं, उनमें परस्पर पृथक्ता होती

है। जैसे जीव, पुद्गल आदि। जिनके प्रदेश तो एक ही हैं; पर नाम, लक्षण आदि भिन्न-भिन्न हैं; उनमें परस्पर अन्यता होती है। जैसे एक ही पदार्थ के द्रव्य, गुण, पर्याय आदि। अन्यता को ही अन्यत्व, तदभाव, अतद्भाव, स्वरूपाभाव आदि कहते हैं।

2. प्रसज्याभाव – तत्त्वार्थराजवार्तिक में आचार्य भट्ट अकलंकदेव लिखते हैं – **"प्रत्यक्षो न भवतीत्यप्रत्यक्ष इति प्रसज्यप्रतिषेधो.....।** जो प्रत्यक्ष नहीं है, वह अप्रत्यक्ष है – ऐसा प्रसज्याभाव है।"

न्यायविनिश्चयवृत्ति के अनुसार "वस्तु का अभावमात्र दर्शाना प्रसज्याभाव है। जैसे इस भूतल पर घट नहीं है।"

इसप्रकार निषेधवाचक अभाव को प्रसज्याभाव कहते हैं।

3. पर्युदासाभाव – (वहीं) **"प्रत्यक्षादन्योऽप्रत्यक्षः इति पर्युदासः –** प्रत्यक्ष से अन्य अप्रत्यक्ष है – ऐसा पर्युदासाभाव है।"

इसके द्वारा एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु का सद्भाव ग्रहण किया जाता है। जैसे प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है इत्यादि।

इसप्रकार जिनागम में अन्य अभावों की भी चर्चा उपलब्ध होती है।

अभाव की समग्र चर्चा का उद्देश्य मात्र इतना ही है कि प्रत्येक पदार्थ का, उसके अंशों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार कर हम करने-धरने के भाव से निवृत्त हो, पर से पूर्ण निरपेक्ष, स्वतन्त्र, अनन्त वैभव सम्पन्न अपने ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिर रहें; जिससे मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावों का अभाव होकर, जीवन सम्यक् रत्नत्रय सम्पन्न अतीन्द्रिय आनन्दमय हो जाए।

इसप्रकार सुखमय जीवन जीने के लिए अभावों को समझना अत्यावश्यक है।

वस्तु की पर से निरपेक्ष सामर्थ्य

न हि स्वतोऽसति शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते-

जो शक्ति स्वयं में नहीं है, उसे अन्य द्वारा नहीं किया जा सकता है।

न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते -

वस्तु की शक्तियाँ अन्य की अपेक्षा नहीं रखती हैं।

- समयसार १२१ से १२५ गाथा की आत्मख्याति टीका के वाक्यांश

पाठ 8

पाँच पाण्डव

प्रश्न 1: आचार्य जिनसेन का व्यक्तित्व-कर्तृत्व लिखिए।

उत्तरः अपनी वर्णन क्षमता और काव्य प्रतिभा की अपूर्वता के कारण आचार्य जिनसेन प्रबुद्धाचार्यों की श्रेणी में अग्रगण्य हैं। आप पुन्नाट संघ के आचार्य हैं। पुन्नाट कर्नाटक का प्राचीन नाम है। आचार्य हरिषेण की कृति कथाकोष के अनुसार भद्रबाहु स्वामी के आदेशानुसार उनका संघ चंद्रगुप्त या विशाखाचार्य के साथ दक्षिणापथ के पुन्नाट देश में गया था; अतः इस देश के मुनिसंघ का नाम पुन्नाटसंघ पड़ गया।

आपके गुरु का नाम कीर्तिषेण था। आपने अपनी कृति हरिवंशपुराण में अन्तिम तीर्थनायक वर्धमान स्वामी के निर्वाण के बाद 683 वर्ष के अनन्तर अपने गुरु कीर्तिषेण पर्यन्त अपनी अविच्छिन्न गुरु परम्परा का उल्लेख किया है।

आज आपकी एकमात्र रचना हरिवंशपुराण ही जन-जन के मानस पटल पर व्याप्त है। इसके रचना-स्थान का निर्देश करते हुए आपने स्वयं इसी कृति में लिखा है कि शक संवत् 705 (ई. सन् 783) में जिस समय उत्तर दिशा की इन्द्रायुध, दक्षिण दिशा की कृष्ण-पुत्र श्रीबल्लभ, पूर्व की अवन्तिनृपति वत्सराज और पश्चिम/सौरों के अधिमंडल सौराष्ट्र की वीर जय वराह रक्षा कर रहे थे; उस समय लक्ष्मी से समृद्ध वर्धमानपुर के नन्नराजवसति नाम से प्रसिद्ध पार्श्व जिनालय में इस ग्रंथ का प्रणयन प्रारम्भ हुआ और दोस्तटिका के शान्ति जिनालय में इसकी पूर्णता हुई।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ. ए. एन. उपाध्ये के मतानुसार यह वर्धमानपुर काठियावाड़ का वर्तमान वढ़वान है; परन्तु डॉ. हीरालालजैन के मतानुसार मध्यप्रदेश के धार जिले का बदनावर स्थान ही वर्धमानपुर है। अपने मत की पुष्टि के लिए वे लिखते हैं कि इस बदनावर में प्राचीन जैन मंदिरों के भग्नावशेष आज भी विद्यमान हैं; यहाँ से दुतरिया/प्राचीन दोस्तटिका नामक ग्राम भी समीप है तथा हरिवंशपुराण में वर्णित राज्य विभाजन की सीमाएं भी इस स्थान से सम्यक् घटित हो जाती हैं। सम्भव है कि उस समय वर्धमानपुर जैन संघ का केन्द्र रहा हो तथा

मालवा में राष्ट्रकूट नरेशों का प्रभुत्व स्थापित होने पर बदनावर में जैनपीठ की स्थापना हुई हो।

आचार्य जिनसेन ने ग्रंथ रचना का काल स्वयं निर्दिष्ट किया होने से आपके स्थिति-समय के संबंध में मतभेद की संभावना नहीं है। शक संवत् 705 तदनुसार विक्रम संवत् 840, ई. सन् 783 में हरिवंशपुराण की रचना पूर्ण हुई होने से आपका समय लगभग ई. सन् 748-818 सिद्ध होता है। आप महापुराण के कर्ता जिनसेनाचार्य से पूर्ववर्ती होने के कारण जिनसेन प्रथम नाम से प्रसिद्ध हैं।

पुराणग्रंथों में पद्मपुराण के बाद सर्वाधिक पढ़ा जानेवाला हरिवंशपुराण ही आपकी अक्षय कीर्ति के लिए एकमात्र उपलब्ध कृति है। छ्यासठ सर्ग और बारह हजार श्लोकों में निबद्ध इसमें बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ का चरित्र विशद रूप से वर्णित है। प्रसंगवश नारायण श्रीकृष्ण, बलभद्र पदधारी बलदेव/बलराम, कौरव, पाण्डव आदि इतिहास-प्रसिद्ध अनेक महापुरुषों के चरित्र भी इसमें अति सुन्दरतम रूप में निबद्ध हैं।

प्रथमानुयोग की शैली में निबद्ध यह ग्रंथ वास्तव में ज्ञानकोष है। इसमें कर्म सिद्धान्त, आचारशास्त्र, तत्त्वज्ञान एवं आत्मानुभूति संबंधी विशद चर्चाएं चर्चित हैं। साहित्यिक सुषमा से समृद्ध यह ग्रंथ उच्चकोटि का महाकाव्य भी है। मणि-कांचन संयोग के समान इसमें मार्गदर्शक सूक्तिआँ भी निहित हैं।

पुराणग्रंथ होने से अपने पूर्ववर्ती पुराणकारों-पुराणों/रविषेणाचार्य के पद्मपुराण और जटासिंहनन्दि के वरांगचरित्र का तो इस पर प्रभाव है ही; इसके साथ ही इसका लोक विभाग और शलाका पुरुषों का वर्णन तिलोयपण्णत्ति से प्रभावित है; द्वादशांग वर्णन तत्त्वार्थवार्तिक के अनुरूप है; तत्त्व-प्रतिपादन तत्त्वार्थ सूत्र और सर्वार्थसिद्धि को आधार मानकर किया गया है; संगीत का वर्णन भरत मुनि के नाट्य शास्त्र से अनुप्राणित है – इसप्रकार इस पर पूर्वाचार्यों का प्रभाव पूर्णतया परिलक्षित होता है।

जयपुर के सुप्रसिद्ध विद्वान पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल ने इस पर एक भाषा टीका लिखी है।

नेमिनाथ भगवान के पावन जीवन का वर्णन कर यह पुराणग्रंथ मानव जीवन के समक्ष कर्तव्य और आदर्श की स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करता है; अतः हमें गहराई से इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न 2: पाण्डवों की कहानी लिखिए।

उत्तरः बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ के समकालीन पाँच पाण्डव त्रिखंडाधिपति नारायण कृष्ण के महामाण्डलिक राजाओं में प्रमुख थे। हस्तिनापुर के कुरुवंशी प्रसिद्ध राजा पद्मरथ के कुल में एक शक्ति नामक महाप्रतापी राजा हुए हैं। उनकी शतकी नामकी रानी से पाराशर नामक महाप्रतापी पुत्र हुआ। गुण सम्पन्न राजकुमार पाराशर के गंगा नामक पत्नि से गांगेय नामक पुत्र हुआ। जो बाद में शादी व राज्य नहीं करने की दृढ़तम प्रतिज्ञा के कारण भीष्म पितामह नाम से प्रसिद्ध हुए। धृतराज के दूसरे भाई रुक्मण के पुत्र भीष्म के रूप में भी भीष्म पितामह की प्रसिद्धि है। पाराशर ने पुनः मत्स्य कुलोत्पन्न राजकुमारी सत्यवती से विवाह किया; जिससे व्यास उपनामधारी धृतराज नामक पुत्र का जन्म हुआ। धृतराज के अंबिका, अंबालिका और अंबा नामक तीन रानिओं से क्रमशः धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर – ये तीन पुत्र हुए।

हरिवंश के राजा सुवीर की पत्नि कलिंगी से जन्मे भोजकवृष्टि की सुमति नामक रानी से उग्रसेन, महासेन, देवसेन नामक तीन पुत्र तथा गांधारी नामक एक पुत्री का जन्म हुआ। गांधारी का विवाह धृतराष्ट्र से हुआ। उनसे दुर्योधन, दुःशासन आदि सौ पुत्र हुए; जो कुरुवंशी होने से बाद में कौरव नाम से प्रसिद्ध हुए।

हरिवंश के दूसरे राजा शूर की सुन्दरी नामक पत्नि से अन्धकवृष्टि नामक पुत्र हुआ। अंधकवृष्टि की रानी भद्रा से समुद्र विजय आदि दश पुत्र तथा कुन्ती और माद्री नामक दो पुत्रिआँ हुईं। दोनों पुत्रिओं का विवाह पाण्डु राजा से हुआ। कुन्ती से विवाह के पूर्व कर्ण नामक पुत्र का जन्म हुआ। जिसे लोकनिन्दा के भय से छोड़ दिया था। विवाह के बाद युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन – इन तीन पुत्रों का जन्म हुआ। माद्री से नकुल और सहदेव – इन दो पुत्रों का जन्म हुआ। ये पाँच पाण्डु के पुत्र होने के कारण बाद में पाँच पाण्डव नाम से प्रसिद्ध हुए। अंधकवृष्टि के पहले पुत्र समुद्रविजय से बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा अन्तिम दशवें पुत्र वसुदेव से नवमें बलभद्र बलदेव और नवमें नारायण कृष्ण का जन्म हुआ था। इसप्रकार पाण्डव कृष्ण आदि की बुआ के पुत्र थे।

भार्गववंशी, धनुर्विद्या में प्रवीण गुरु द्रोणाचार्य इन सभी के गुरु थे। इनका पुत्र अश्वत्थामा भी इनके समान ही धनुर्विद्या में प्रवीण था।

राजा पाण्डु के दीक्षित होकर स्वर्ग सिधारने के बाद कौरव और पाण्डवों में

राज्य को लेकर तनाव रहने लगा। भीष्म, विदुर और द्रोणाचार्य ने मध्यस्थता पूर्वक दोनों को आधा-आधा राज्य देकर समझौता करा दिया था, पर उनका मानसिक द्वन्द्व समाप्त नहीं हो सका।

दुर्योधन सतत उन्हें नष्ट करने का विचार किया करता था। एक बार उसने लाक्षागृह बनवाकर कृत्रिम स्नेह दिखाते हुए पाण्डवों को अत्याग्रह पूर्वक उसमें, रहने के लिए बाध्य किया। जब पाण्डव उसमें निश्चिंत हो रहने लगे; तब एक बार उसने अवसर पाकर रात्रि में उसमें आग लगवा दी। लाक्षागृह पूर्णतया जल गया। पाण्डव तो पहले से सावधान होने के कारण सुरंग मार्ग से निकलकर अन्यत्र चले गए; पर लोगों ने यही समझा कि पाण्डव जल गए हैं। इस काण्ड से लोक में कौरवों की निंदा भी अत्यधिक हुई; पर दुर्योधन ने अपने कुशल प्रशासन से पुनः लोगों का मन अपनी ओर आकर्षित कर लिया।

यहाँ पाण्डव छद्मवेष धारण कर गुप्तवास करते हुए घूमते-घूमते एक बार राजा द्रुपद की राजधानी माकन्दी पहुँच गए। वहाँ राजा द्रुपद की कन्या द्रोपदी का स्वयंवर हो रहा था। इस देवो-पुनीत धनुष को चढ़ानेवाला ही द्रोपदी का पति होगा – ऐसी वहाँ घोषणा की गई थी। उस स्वयंवर में दुर्योधन आदि कौरव तथा और भी अनेक राजा आए हुए थे; पर उस धनुष को कोई भी नहीं चढ़ा सका। विप्रवेशी अर्जुन ने उसे क्रीड़ामात्र में चढ़ा दिया और अपनी प्रतिज्ञानुसार द्रोपदी ने अर्जुन के गले में वरमाला डाल दी।

दुर्योधन आदि राजाओं को यह अच्छा नहीं लगा कि उनकी उपस्थिति में एक साधारण विप्र का द्रोपदी वरण करे। इसके लिए उन्होंने अन्य राजाओं को भी भड़काया; जिससे पाँचों पाण्डवों और दुर्योधन आदि अन्यान्य राजाओं के बीच भयंकर युद्ध छिड़ गया। धनुर्धारी अर्जुन के समक्ष जब कोई भी धनुर्धारी नहीं टिक सके; तब स्वयं गुरु द्रोणाचार्य उससे युद्ध करने आए। गुरु को सामने आया देखकर विनय से नम्रीभूत हो अर्जुन ने गुरु को नमस्कार परक वाण द्वारा अपना परिचय-पत्र गुरु के पास भेजा।

गुरु द्रोणाचार्य को जब यह ज्ञात हुआ कि ये विप्रवेशधारी अर्जुन आदि पाँच पाण्डव हैं; तो उन्हें अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने सभी को यह समाचार सुना दिया। एक बार पुनः गुरु द्रोण और भीष्म पितामह ने कौरव और पाण्डवों में मेल-मिलाप करा दिया। दोनों पुनः आधा-आधा राज्य लेकर हस्तिनापुर में रहने लगे।

इतना सब होने के वाद भी कौरवों की राज्य-विषयक तृष्णा शान्त नहीं हुई। वे सदैव यही विचार किया करते थे कि सम्पूर्ण राज्य हमें कैसे मिले? एक बार दुर्योधन और युधिष्ठिर शर्त लगाकर पासों का खेल खेल रहे थे। उन्होंने उसमें बारह वर्ष के लिए राज्य को भी दाव पर लगा दिया। दुर्योधन कपट से दाव जीत गया और युधिष्ठिरादि पाण्डवों को बारह वर्ष पर्यन्त राज्य छोड़कर अज्ञातवास में रहना पड़ा।

गुप्तवेश में घूमते-घूमते एक बार वे विराटनगर पहुँचे। वहाँ राजा विराट के यहाँ वे गुप्तवेश में ही विविध पदों पर कार्य करने लगे। युधिष्ठिर पण्डित बनकर, भीम रसोइया बनकर, अर्जुन नर्तकी बनकर, नकुल और सहदेव अश्वशाला के अधिकारी बनकर तथा द्रोपदी मालिन बनकर वहीं रहने लगी।

समय बीतता गया। राजा विराट की रानी सुदर्शना का भाई कीचक द्रोपदी को साधारण मालिन समझकर, अनेक प्रकार के लोभ दिखा-दिखाकर अपना बुरा भाव प्रगट करने लगा। द्रोपदी ने यह बात अपने जेठ भीम से कही। भीम ने उससे कहा कि तुम उससे नकली स्नेहपूर्ण बातें बनाकर मिलने का स्थान और समय निश्चित कर मुझे बता देना। आगे मैं सब देख लूँगा। पापी कीचक को अपने किए की सजा मिलनी ही चाहिए।

द्रोपदी ने नकली स्नेह दिखाकर उससे रात्रि का समय और एकान्त स्थान निश्चित कर भीम को बता दिया। भीम द्रौपदी के वस्त्र पहिनकर निश्चित स्थान पर निश्चित समय से पूर्व ही पहुँच गए।

कामासक्त कीचक वहाँ पहुँचा तो द्रोपदी को आया जानकर अत्यधिक प्रसन्न हो उससे प्रेमालाप करने लगा; किन्तु जब उसे उस प्रेमालाप का उत्तर भीम के कठोर मुष्टिका प्रहारों से मिला, तो वह तिलमिला उठा। उसने अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिरोध करने का भरपूर प्रयत्न किया; पर भीम के आगे उसकी एक नहीं चली; अतः निर्मद हो दीन-हीन हो गया। उसे अपनी करनी का फल मिल गया था; अतः उसे दीन-हीन देखकर दयालु भीम ने भविष्य में कभी पुनः ऐसा काम नहीं करने की चेतावनी देकर छोड़ दिया।

वहाँ से घूमते-घूमते वे अपने मामा के यहाँ द्वारिका चले गए। द्वारिकाधीश कृष्ण के पिता वसुदेव, भगवान नेमिनाथ के पिता समुद्रविजय पाण्डवों के मामा थे। उन्होंने बहिन सहित आए अपने भानजों का अत्यधिक आदर-सत्कार किया।

इधर नौवें प्रतिनारायण जरासंध को रत्न-व्यापारी जौहरिओं के माध्यम से जब देव-रचित, सर्व साधन सम्पन्न, अति समृद्ध द्वारिका नगरी का परिचय प्राप्त हुआ तो उसे जीतने के लिए उसने युद्ध की भेरी बजवा दी। अपने-अपने सभी सहयोगी राजाओं को एकत्रित कर दोनों ओर से युद्ध प्रारम्भ हो गया। कौरवों ने प्रतिनारायण जरासंध का और पाण्डवों ने नारायण कृष्ण का साथ दिया। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। अन्ततः विजयश्री कृष्ण को मिली; वे त्रिखण्डाधिपति, अर्धचक्री हो गए। पाण्डवों को महामाण्डलिक राजाओं के रूप में पुनः हस्तिनापुर आदि कुरुक्षेत्र का राज्य मिल गया।

इनमें से युधिष्ठिर गंभीर प्रकृति के सहज धर्मानुरागी न्यायवंत राजा होने से सत्यवादी, धर्मराज युधिष्ठिर के नाम से प्रसिद्ध हुए। भीम में शारीरिक बल अतुलनीय था, वे मल्लविद्या में अद्वितीय तथा गदा चलाने में प्रवीण थे। अर्जुन अपनी बाण विद्या में जगत प्रसिद्ध धनुर्धर थे।

पुनः राजा बन जाने पर भी पूर्वभवों में अन्य के बसे हुए घरों को उजाड़ने से बँधा हुआ पापकर्म नष्ट नहीं होने के कारण पुनः उन्हें राज्य से बंचित होना पड़ा। हुआ यह कि अंतःपुर में आए नारद के आगमन से अनभिज्ञ द्रोपदी द्वारा अपनी उचित विनय नहीं पाने से रुष्ट हो नारद ने उसका एक चित्र धातकीखण्ड की अमरकंकापुरी में राजा पद्मनाभ को दिखा दिया। कामासक्त हो पद्मनाभ ने एक देव की सहायता से सोती हुई द्रोपदी को अपने महल में उठवा लिया। बाद में कृष्ण की सहायता से पाण्डवों ने द्रोपदी को प्राप्त किया। द्रौपदी को वापिस लाते समय गंगा नदी के तट पर भीम द्वारा कृष्ण के प्रति मजाक किए जाने से क्रोधित हो कृष्ण ने हस्तिनापुर से पाण्डवों को निष्कासित कर दिया। भटकते-भटकते मथुरा की गुफाओं में उन्हें शरण लेनी पड़ी।

बहुत काल बाद द्वारिका-दाह की भयंकर घटना ने उनके हृदय को झकझोर दिया; उनका चित्त संसार से उदास हो गया। एक दिन वे विरक्त-हृदयी पाण्डव भगवान नेमिनाथ की वन्दना के लिए सपरिवार उनके समवसरण में गए। वहाँ भगवान की दिव्यवाणी सुनकर उनका वैराग्य और अधिक प्रबल हो गया। दिव्यध्वनि में आ रहा था कि भोगों में सच्चा सुख नहीं है; आत्मा स्वयं सुखमय तत्त्व है। उसे सुखी होने के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं है। आत्मा का हित तो आत्मा

को समझकर उससे भिन्न समस्त पर-पदार्थों से ममत्व हटाकर अपने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा में एकाग्र होने में है। लौकिक लाभ-हानि तो पुण्य-पाप का खेल है, उसमें आत्मा का हित नहीं है। यह आत्मा व्यर्थ ही पुण्य के उदय में हर्षित और पाप के उदय में खिन्न हो दुखी हो रहा है। मनुष्य भव की सार्थकता तो समस्त जगत से ममत्व हटाकर आत्मकेन्द्रित होने में है।

भगवान की दिव्यवाणी सुनकर पाँचों पाण्डवों ने उसी समय भगवान से भव-भ्रमण का नाश करनेवाली दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर ली। उनकी माता कुन्ती तथा द्रोपदी, सुभद्रा आदि अनेक रानिओं ने आर्यिका राजीमती (राजुल) से आर्यिका के व्रत स्वीकार कर लिए।

पाँचों पाण्डव मुनिराज आत्मसाधना में तत्पर हो तपश्चरण करने लगे। एक बार वे शत्रुंजय गिरी पर ध्यानमग्न थे। उस समय किसी कार्यवश दुर्योधन का वंशज/यवरोधन/कुर्योधन वहाँ आया। इन पाण्डवों को देखकर उसकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी। वह सोचने लगा कि ये वही पाण्डव हैं जिन्होंने मेरे दुर्योधन आदि कौरववंशी रिश्तेदारों की दुर्दशा की थी। उस समय ये शक्ति सम्पन्न थे; अतः मैं कुछ नहीं कर सका; परन्तु अब ये निःसहाय हैं; अस्त्र-शस्त्र विहीन हैं; इस समय इनसे बदला लेना चाहिए; इन्हें अपनी करनी का मजा चखाना चाहिए। यह सोचकर उसने लोहे के गहने बनवाकर, उन्हें आग में तपाकर, लाल सुर्ख कर आत्मध्यान-निमग्न पाँचों पाण्डवों को पहिना दिए और कहने लगा – तुमने हमारे मामाओं से राज्य प्राप्त किया था। मैं तुम्हें आभूषण पहिना रहा हूँ।

इस भयंकर उपसर्ग से पाण्डवों का पार्थिव देह जलने लगा। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तो ज्ञानानन्द स्वभावी अपने आत्मा में लीनता रूप अपूर्व शीतल, शान्त अवस्था में क्षपकश्रेणी का आरोहण कर सभी शुभाशुभ भावों, अष्ट कर्मों को भस्म कर, केवलज्ञान प्रगटकर, उसी शत्रुंजय गिरी से मुक्त हो गए; परन्तु नकुल और सहदेव की आत्मलीनता कुछ भंग हो गई; जिससे वे देवायु का बंधकर सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र देव हुए। वाद में वहाँ से आकर एक मनुष्य भव धारण कर वे भी मोक्ष प्राप्त करेंगे।

इसप्रकार युधिष्ठिर आदि तीन पाण्डव स्वरूप-स्थिरता के बल पर द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि सभी संयोगों और संयोगी भावों से मुक्त हो अनन्तकाल

तक के लिए अव्याबाध सुखमय अशरीरी सिद्ध दशा को प्राप्त हो गए। हमें भी उन्हें आदर्श बनाकर उनके समान सतत ही अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ में तत्पर रहना चाहिए।

प्रश्न 3: पाँच पाण्डवों का वंशोत्पत्तिक्रम चार्ट द्वारा स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः पाँच पाण्डवों का वंशोत्पत्ति-क्रम –

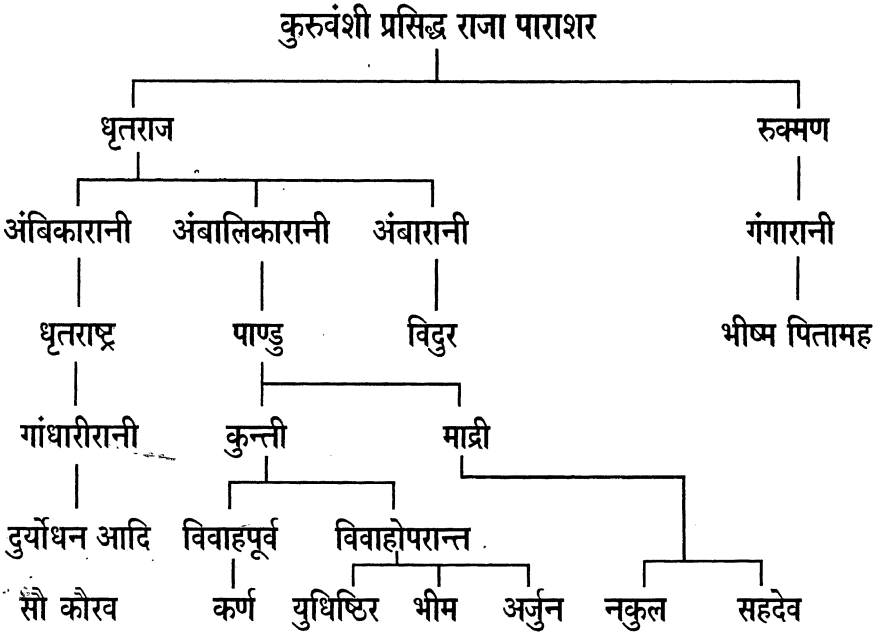

इसप्रकार पाण्डवों का वंशोत्पत्ति-क्रम है।

प्रश्न 4: शत्रुंजय पर्वत से आप क्या समझते हैं ?

उत्तरः शत्रुंजय पर्वत एक सिद्धक्षेत्र है। यहाँ से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन – इन तीन पाण्डवों के साथ ही द्रविड़ राजा आदि आठ करोड़ मुनिराज मुक्त हुए हैं। यह गुजरात प्रान्त के सौराष्ट्रवाले भाग में भावनगर के पास स्थित है। इसकी तलहटी में पालीताना नगर बसा होने से इसे पालीताना भी कहते हैं। अध्यात्म के लिए वर्तमान में प्रसिद्ध क्षेत्र सोनगढ़ से यह मात्र अठारह किलोमीटर दूर है। वर्तमान में श्वेताम्बर बन्धुओं का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हो जाने से यहाँ श्वेताम्बर आम्नायवाले सर्वाधिक मन्दिर तथा धर्मशालाएं हैं। दिगम्बर जैन मन्दिर तथा धर्मशालाएं भी हैं। इसकी यात्रा करते हुए पाण्डवों के जीवन से शिक्षा ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न 5: क्या द्रौपदी के पाँच पति थे? यदि नहीं, तो वह पाँच पति के रूप में प्रसिद्ध क्यों हुई ?

उत्तरः द्रोपदी एक महासती महिला रत्न थी। उसने मात्र अर्जुन का ही पति के रूप में वरण किया था। वह सदैव युधिष्ठिर और भीम को जेठ होने के कारण पिता के समान तथा नकुल और सहदेव को देवर होने के कारण पुत्र के समान देखती थी। हिन्दू धर्म में भी महासती नारिओं के अन्तर्गत उसका नाम आता है। उसे पाँच पतिवाला कहना सती नारिओं का अवर्णवाद है।

एक छोटी सी घटना के कारण विरोधी लोगों ने उसका ऐसा अपवाद किया था। वह इसप्रकार – जब द्रौपदी अर्जुन के गले में वरमाला डाल रही थी, तब अचानक माला का डोरा/धागा टूट जाने से अर्जुन के दोनों ओर बैठे दो-दो भाइयों के ऊपर भी उसके फूल गिर गए। जिन्हें यह संबंध मान्य नहीं था, उन्होंने इस घटना को देखकर उसका अपवाद फैला दिया कि इसने पाँच पतिओं का वरण किया है। हमें सही ज्ञानकर ऐसे अपवादों से बचना चाहिए।

प्रश्न 6: पाण्डवों के इस जीवन-चरित्र से हमें क्या शिक्षा मिलती है ?

उत्तरः पाण्डवों का समग्र जीवन शुभ, अशुभ और शुद्ध भावों के फल का चित्रण करनेवाली खुली हुई पुस्तिका है। उससे हमें अनेकानेक शिक्षाएं मिलती हैं। जो इसप्रकार हैं –

1. जुआँ खेल में उलझकर या शर्त लगाकर पाँसे खेलने में उलझकर महापराक्रमी पाण्डवों को भी अनेक विपत्तिओं का सामना करना पड़ा; अतः हमें कोई भी कार्य शर्त लगाकर नहीं करना चाहिए।

2. आत्म-साधना के बिना लौकिक जीत-हार का कोई महत्त्व नहीं है। आत्मा की सच्ची जीत तो मोह, राग, द्वेष को जीतने में है।

3. पूर्वभव में याज्ञिक ब्राम्हण होने से यज्ञ के लिए लकड़ी/समिधा के नाम पर जो अन्य पशु-पक्षिओं के बसे हुए घर उध्वस्त किए थे; अनेकों के घर जला डाले थे; उसके परिणामस्वरूप इनका घर भी जलाया गया। इनकी बसी हुई गृहस्थी बारम्बार उध्वस्त हुई। राज्य प्राप्त कर लेने के बाद भी राज्य-सुख नहीं भोग सके। इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि कभी भी किसी के भी बसे हुए घर हमें नहीं उजाड़ना चाहिए। साफ-सफाई के नाम पर मकड़िओं के जाल, चिड़ियों आदि के घोसले नष्ट नहीं करना चाहिए। यदि आप अपनी जगह में दूसरों को नहीं रहने देना

चाहते हैं तो समय-समय पर उन कीड़े-मकोड़ों के घर बनाने के पूर्व ही सब ओर साफ-सफाई कर लेना चाहिए; जिससे वे अपने घर बना ही नहीं सकें।

4. द्रोपदी का जीव दो भव पूर्व आर्यिका था। एक बार वन में एक वेश्या से उसके पाँच यार विषय-सुख की माँग कर रहे थे। यह देखकर उन आर्यिका को यह भाव आया कि 'अहो ! इसका जीवन कितना सुखमय है।' उस पाप की अनुमोदना करने के कारण वर्तमान द्रोपदी-भव में महासती होने पर भी पाँच पति का कलंक सहन करना पड़ा। इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि स्वयं तो पाप करना ही नहीं, कराना भी नहीं, करते हुए की अनुमोदना भी नहीं करना; क्योंकि अनुमोदना के फल में निष्पाप जीवन पर भी पाप का कलंक लग जाता है।

5. कीचक की घटना से हमें यह सीखने को मिलता है कि बुरे भावों का फल बुरा भोगना ही पड़ेगा; अतः बुरे भावों से बचें।

6. पाँचों पाण्डवों पर इतना भयंकर उपसर्ग होने पर भी वे आत्माराधना से च्युत नहीं हुए; इसका अर्थ यह है कि इतनी भयंकर परिस्थिति में भी उस परिस्थिति से भिन्न आत्माराधना सम्भव है – इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि परिस्थितिओं का वहाना वनाकर आत्माराधना से विमुख नहीं होना चाहिए। यह पूर्णतया अपने पुरुषार्थ पर निर्भर है, परिस्थितिओं पर नहीं।

7. तीन पाण्डवों की मुक्ति और दो के सर्वार्थसिद्धि-गमन से भी हमें यह शिक्षा मिलती है कि वाह्य परिस्थितिआँ, प्रवृत्तिआँ, दशाएं समान होने पर भी अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ में अन्तर होने से अवस्थाएं पृथक्-पृथक् हो गईं। इतना सा परलक्षी परिणाम भी इतना लम्बा संसार वढ़ाने में समर्थ है। हम अन्य के संबंध में विविध विकल्पों के माध्यम से अपना संसार तो बढ़ा सकते हैं; पर उसका कुछ भी कर पाना सम्भव नहीं है; अतः ऐसे निरर्थक विकल्पों से वश हो; एक स्वरूप-स्थिरता ही कर्तव्य है।

8. कृष्ण द्वारा देश-निकाला दिए जाने की घटना से यह शिक्षा मिलती है कि वैसे तो हँसी-मजाक करना स्वयं में ही कषायमय कार्य होने से बुरा है ही; तथापि परिस्थिति की गंभीरता का विचार किए बिना, अपने उपकारी के साथ किया गया हँसी-मजाक तो अत्यधिक अनर्थकारी सिद्ध हो जाता है; अतः ऐसे दुष्कृत्यों से दूर रहते हुए अपना जीवन सरल, निश्छल बनाना चाहिए।

इत्यादि अनेकानेक शिक्षाएं इस कहानी से हमें प्राप्त होती हैं। ●

पाठ 9

भावना बत्तीसी

प्रश्न 1: आचार्य अमितगति का व्यक्तित्व-कर्तृत्व लिखिए।

उत्तरः उज्जयनी नगरी के राजा वाक्पतिराज मुंज की राजसभा में प्रतिष्ठा प्राप्त आचार्य अमितगति प्रथितयश सारस्वताचार्यों में से एक हैं। आप विक्रमसंवत् 11वीं शती के बहुश्रुत विद्वान और विविध विषयों के ग्रंथकार आचार्य हैं। आपने अपनी 'धर्म परीक्षा' कृति की प्रशस्ति में अपनी गुरु परम्परा तथा अमरकीर्ति ने अपनी कृति 'छक्कम्मोवएस' में आपकी शिष्य परम्परा को इसप्रकार स्पष्ट किया है – गुरुणांगुरु वीरसेन के शिष्य देवसेन, देवसेन के शिष्य योगसार प्राभृतकार अमितगति प्रथम, इनके शिष्य नेमिषेण, नेमिषेण के शिष्य माधवसेन और माधवसेन के शिष्य प्रस्तुत अमितगति द्वितीय, इनके शिष्य शान्तिषेण, शान्तिषेण के शिष्य अमरसेन, अमरसेन के शिष्य श्रीसेन, श्रीसेन के शिष्य चंद्रकीर्ति और उनके शिष्य छक्कम्मोवएस के कर्ता अमरकीर्ति हैं।

आपकी अनेकानेक कृतिआँ मानी जाती हैं। उनमें से कुछ कृतिआँ ये हैं – सुभाषित रत्नसंदोह, धर्मपरीक्षा, उपासकाचार, पंचसंग्रह, आराधना, भावना द्वात्रिंशतिका।

1. सुभाषित रत्नसंदोह – वि. सं. 1050 की पौष शुक्लपंचमी को मुंजराजा के राज्यकाल में रचा गया यह ग्रंथ सुभाषित रूपी रत्नों का रत्नाकर है। 32 प्रकरण तथा 922 पद्यों में निबद्ध, आध्यात्मिक, आचारात्मक और नैतिक तथ्यों की अभिव्यंजना सुभाषित शैली में करनेवाला यह ग्रंथ सुभाषित नीति साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

2. धर्मपरीक्षा – व्यंग्य प्रधान शैली में रचे गए संस्कृत साहित्य में यह अपने ढंग की अद्‌भुत रचना है। इसमें पौराणिक ऊटपटांग कथाओं और मान्यताओं को बड़े ही मनोरंजक रूप में अविश्वसनीय सिद्ध किया गया है। 1945 पद्यों में निबद्ध इस ग्रंथ में आक्रमणात्मक शैली न अपनाते हुए सुझावात्मक शैली द्वारा व्यंग्य और

संकेतों के आधार पर सृष्टि उत्पत्तिवाद, सृष्टि प्रलयवाद आदि असम्भव और मनगढ़न्त बातों की कथाओं द्वारा समीक्षा की गई है।

3. उपासकाचार – 15 अध्याय और 1352 पद्यों में निबद्ध यह ग्रंथ अमितगति श्रावकाचार नाम से भी प्रसिद्ध है। विशद, सुगम और विस्तृत इस श्रावकाचार में मिथ्यात्व-सम्यक्त्व का अन्तर, सप्त तत्त्व, अष्ट मूलगुण, बारह व्रत, ध्यान आदि का विस्तृत वर्णन है।

4. पंचसंग्रह – 1375 पद्यों में निबद्ध यह ग्रंथ प्राकृत पंचसंग्रह के समान करणानुयोग के विषयों को अत्यन्त सरल और मधुर शैली में स्पष्ट करता है। इसमें जीवसमास, प्रकृतिस्तव, कर्मबंधस्तव, शतक और सप्तति – इन पाँच प्रकरणों द्वारा कर्म-सिद्धान्त को अवगत कराया गया है।

5. आराधना – आचार्य शिवार्य कृत भगवती आराधना का यह संस्कृत रूपान्तर है। इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप चारों आराधनाओं के विवेचन के साथ ही प्रसंगवश जैनधर्म के अन्यान्य प्रमेय भी समाविष्ट हैं।

6. भावना द्वात्रिंशतिका – 33 पद्यों का यह छोटा सा प्रकरण सांसारिक भावों से भिन्न अपने आत्मा की शुद्धता को पर्याय में व्यक्त करने का मार्ग प्रशस्त करनेवाला अत्यन्त सरस और हृदय को पावन करनेवाला ग्रन्थ है।

इनके अतिरिक्त लघु और वृहत् सामायिक पाठ, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, सार्धद्वय-द्वीप-प्रज्ञप्ति, चंद्र-प्रज्ञप्ति और व्याख्या-प्रज्ञप्ति ग्रंथ भी आपकी रचनाएं माने जाते हैं।

इसप्रकार आंपने अपनी लेखनी द्वारा जिनवाणी माँ के अक्षय कोश को समृद्ध करने में अनुकरणीय, अनुमोदनीय सहयोग प्रदान किया है।

प्रश्न 2: भावना बत्तीसी का सामान्य अर्थ लिखिए।

उत्तरः आचार्य अमितगति की अनुपम, अध्यात्म रस गर्भित कृति भावना द्वात्रिंशतिका का यह सामान्य भावानुवाद है। यह आध्यात्मिक विद्वान पण्डित जुगल किशोर जी 'युगल' की एक अनूदित प्रसिद्धतम कृति है। इसमें साम्यभाव की साधना का प्रयोगात्मक प्रयास मुखरित हुआ है। इसमें वीतरागी भगवान से प्रार्थना के रूप में अपना कर्तव्य सुनिश्चित करते हुए; अपने समस्त दुष्कृत्यों की प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान, निन्दा, गर्हा द्वारा क्षमा-याचना कर; वस्तु-स्वरूप के यथार्थ निर्णय पूर्वक स्व-पर का भेदविज्ञान कर आत्म-प्रतीति पूर्वक जगत से उदास हो स्वरूप-स्थिरता की भावना परिपुष्ट की गई है। इसका क्रमशः अर्थ इसप्रकार है –

1. हे भगवान ! मेरे मन में सभी जीवों के प्रति प्रेमभाव हो, गुणवान व्यक्तिओं के प्रति हर्ष/प्रसन्नता का, दुखी जीवों के प्रति दया/करुणा का और विपरीत बुद्धिवाले, वस्तु-स्वभाव को नहीं माननेवाले दुर्जनों के प्रति मध्यस्थता/समता का भाव सतत बना रहे।

2. हे भगवान ! जैसे तलवार म्यान से पूर्णतया पृथक् होने के कारण सरलता, सहजता से पृथक् हो जाती है; उसीप्रकार मुझे वह अनन्त आत्म-सामर्थ्य/स्व-पर भेदविज्ञान के बल पर अनंत पदार्थों में से स्वयं को पूर्णतया पृथक् करने की सामर्थ्य प्राप्त हो, जिससे मैं अपने अनन्त वैभव सम्पन्न आत्मा को इस शरीर से श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र रूप में पूर्णतया पृथक् कर सकूँ।

3. हे प्रभो ! मुझमें ऐसा साम्यभाव प्रगट हो जिससे मुझे सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, काँच-कनक/सुवर्ण, वन-बगीचा, महल-कुटिया इत्यादि सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिओं में न तो ममत्व हो और न खेद-खिन्नता हो।

4. हे प्रभो ! आपने आत्म-स्थिरता के जिस सुन्दरतम मार्ग पर चलकर मोह, मान, विषय-वासना आदि विकारों को जीता है/नष्ट किया है; वही सुन्दर मार्ग मेरा भी अनुशीलन मार्ग बने; मैं भी उसी मार्ग पर चलकर स्वरूप-स्थिर रहूँ।

5. हे प्रभो ! अज्ञान, कषाय, प्रमाद आदि के वशीभूत हो मैंने एकेन्द्रिय आदि प्राणिओं की हिंसा की है। अब मैं विशुद्ध भाव से इसका प्रायश्चित्त करता हूँ; पुनः मैं ऐसा दुष्कृत्य नहीं करूँगा। पूर्वकृत मेरा यह दुष्कृत्य निष्फल हो जाए/मेरे शुद्ध भावों का निमित्त पाकर पूर्ववद्ध कर्म बिना फल दिए ही समाप्त हो जाएं।

6. मैंने कषायों के वशीभूत हो जो भी मोक्षमार्ग से विरुद्ध प्रवृत्ति की है, खोटे मार्ग पर गमन किया है; वह सब मेरी कलुषता मेरे सद्भावों/सम्यक् परिणमन से नष्ट हो जाए।

7. हे प्रभो ! जैसे चतुर वैद्य अपनी चतुराई से विष को शान्त कर देता है; उसीप्रकार मैं भी अपने पापों को शान्त करने के लिए प्रारम्भ से लेकर अन्त पर्यंत अपने सभी दुष्कृत्यों की निन्दा-आलोचना करता हूँ।

8. मैंने सत्य, अहिंसा आदि व्रतों का पालन करने में भी अपने मन को मलिन रखा तथा व्रतों से विपरीत प्रवृत्ति करके शीलमय आचरण/सदाचार का भी लोप कर डाला/स्वच्छन्द प्रवर्तन करने लगा।

9. कभी विषय-वासनामय इन्द्रिय-विषयों की इच्छारूप नदी का गहरा जल मुझ पर ऐसा चढ़ गया कि मैं अपनी सुध-बुध ही खो बैठा। पंचेन्द्रिय विषय-भोगों रूपी शराब को बारम्बार पीने से मुझमें पागलपन आ गया। मैं हित-अहित का विवेक करने में भी असमर्थ हो गया हूँ।

10. हे भगवान ! मैंने सदा छल/माया आदि कषायों के वशीभूत हो असत्य/वस्तु-स्वभाव के विरुद्ध आचरण किया है। मेरे मन में अन्य की निन्दा करने के, चुगली करने के, अन्य को गाली देने के इत्यादि जो भी भाव उत्पन्न हुए, तदनुसार मुँह से भी उगला/वचनों से भी वैसा ही व्यवहार किया है।

11. हे स्वामी ! अब मात्र यही चाह है कि मेरा मन अभिमान रहित पवित्र हो जाए, उसमें सदा सत्य का/वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ही ध्यान चलता रहे। निर्मल जल से परिपूर्ण नदी के समान मेरे हृदय में भी सदा निर्मल ज्ञान की धारा प्रवाहित होती रहे।

12. परमपूज्य मुनिराज, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि के मन में भी जिस अनन्त वैभव सम्पन्न परमदेव/निज शुद्धात्मा का ध्यान रहता है; वेद-पुराण आदि चार अनुयोगमयी समग्र जिनवाणी जिसका सदा यशोगान करती है, वह परमदेव निजशुद्धात्मा मेरे हृदय में भी सदा विद्यमान रहे।

13. जो दर्शन-ज्ञान स्वभावी है, जिसने सभी विषय-विकारों/विकृतिओं को नष्ट कर दिया है, जो उत्कृष्ट ध्यान में ही उपलब्ध होता है, वह परमात्मा परमदेव मेरे मन में वास करे।

14. जो संसार के सभी संतापों को नष्ट कर देता है, जिसका ज्ञान समस्त विश्व को जाननेवाला है, योगीजन जिसे ध्यान द्वारा उपलब्ध करते हैं, वह महान देव मेरे मन में स्थित रहे।

15. जो मुक्ति के मार्ग को/समस्त बन्धनों, पराधीनताओं-से मुक्त हो स्वतन्त्र, स्वाधीन, परम सुखी होने के मार्ग/उपाय को बताता है; जन्म-मरण से पूर्णतया रहित है, समस्त कर्म कलंक से रहित और तीनकाल तीनलोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों को देखनेवाला हैं, वह देव मेरे मन के निकट रहे/मेरा मन सदा उसमें ही स्थिर रहे।

16. समस्त विश्व के प्राणी जिनके अधीन हैं, ऐसे वे राग-द्वेष जिसमें नहीं हैं; जो शुद्ध, इन्द्रियातीत और ज्ञान स्वरूपी है, वह परमदेव मेरे हृदय में वास करे।

17. जो सम्पूर्ण विश्व को देख रहा है, कर्मकलंक से पूर्णतया रहित है, विचित्र/आश्चर्यकारी अद्‌भुत स्वभाव वाला है, स्वच्छ है, विशिष्ट निर्मल है, समस्त विकारों से पूर्णतया रहित है, वह देव मेरे मन को भी पवित्र करे।

18. कर्मकलंक जिसका कभी स्पर्श भी नहीं कर सकता है, वास्तव में तो यह दिव्य प्रकाश भी जिसका स्पर्श नहीं कर सकता है/जो पर्यायमात्र से अप्रभावित है, जिसने मोह रूपी अन्धकार का पूर्णतया भेदन कर दिया है, वह देव ही मुझे परमशरणभूत है।

19. जिसकी केवलज्ञानरूपी दिव्यज्योति के समक्ष सूर्य का प्रकाश भी तेज-हीन दिखाई देता है, जो स्वयं ज्ञानमय है, स्व-पर प्रकाशक है, वह देव ही मुझे परम शरणभूत है।

20. जिसके ज्ञानरूपी दर्पण में सभी पदार्थ अत्यन्त स्पष्ट रूप से झलक रहे हैं, जो आदि-अन्त से रहित शाश्वत है, शान्त है, शिव/कल्याण स्वरूप है, वह देव ही मुझे परमशरणभूत है।

21. जैसे अग्नि सहज ही वृक्ष को जला डालती है; उसीप्रकार जिसके भय, विषाद, चिन्ता आदि सभी विकार स्वयं ही नष्ट हो गए हैं, वह देव ही मुझे परमशरणभूत है।

22. तृण/घास का आसन, चौकी, शिला, पर्वत की चोटी आदि आत्मा में समाधि/स्थिरता के आसन नहीं हैं। इसीप्रकार संस्तर/संथारा, पूजा-प्रतिष्ठा, संघ का सम्मेलन अथवा योग्य संघ का समागम प्राप्त हो जाना, समाधि/आत्म-स्थिरता के साधन नहीं हैं।

23. प्रिय पदार्थों के बिछुड़ जाने और अप्रिय पदार्थों का संयोग हो जाने पर संसारी प्राणी दुःख-शोक आदि करता है; परन्तु वास्तव में तो सभी विश्व-वासना/किसी भी पदार्थ के प्रति किसी भी प्रकार की आसक्ति/समस्त परलक्षी परिणाम हेय/छोड़ने-योग्य ही हैं। एकमात्र अपना निर्मल आत्मा ही उपादेय/आश्रय लेने-योग्य है।

24. बाह्य जगत/जगत में रहनेवाले परपदार्थ मेरे कुछ भी नहीं लगते, मैं भी इन परपदार्थों का कुछ भी नहीं लगता; इनका मुझसे और मेरा इनसे कुछ भी संबंध नहीं है – इस सत्य तथ्य को दृढ़ता पूर्वक स्वीकार करके मैं सम्पूर्ण पर पदार्थों का लक्ष्य छोड़कर, मुक्ति के लिए सदा अपने में ही स्थिर होता हूँ/आत्म-रमण करता हूँ।

25. अपना सम्पूर्ण वैभव तो अपने में ही है, बाह्य पदार्थों में उसे पाने का प्रयास करना निरर्थक है। जग के इन पर पदार्थों को सुखमय तथा सुख के कारण मानना तो मृग-मरीचिका के समान भ्रम है; अतः इनके लिए किया गया पुरुषार्थ भी मिथ्या है।

26. आत्मा अक्षय/अविनाशी, शाश्वत/अनादि-अनन्त स्थाई, निर्मल और ज्ञानस्वभावी है। इसके अतिरिक्त जो भी है वह सभी इससे भिन्न, पर है, कर्माधीन और नाशशील है।

27. जिसका शरीर के साथ भी एकत्व नहीं है; उस आत्मा का एकत्व पुत्र, पत्नी, मित्र आदि के साथ कैसे हो सकता है ? जैसे शरीर से चमड़ी पृथक् हो जाने पर, शरीर में रोम-समूह कैसे रह सकता है ?

28. जो जीव जड़ शरीर आदि परपदार्थों के साथ संयोग करता है, उन्हें अपना मानता है, वह अनन्त दुःख प्राप्त करता है। मोक्षरूपी महल को प्राप्त करने का उपाय तो जड़ शरीर आदि और चेतन आत्मा के पूर्णतया पृथक्-पृथक् होने रूप अत्यन्त सीधा, सरल, सुगम है।

29. हे आत्मन ! यदि सुखी होना चाहते हो तो संसार-सागर में गिरानेवाले सम्पूर्ण विकल्प-समूहों को छोड़कर; समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित निर्विकल्प, संसार के जंजाल से रहित निर्द्वन्द्व आत्मा में पुनः-पुनः स्थिर होओ।

30. जीव ने जो भी शुभ या अशुभ कर्म स्वयं किए हैं; वे नियम से अपना फल देते हैं। कार्य स्वयं करे और फल अन्य के अधीन हो तो अपने द्वारा किए गए कर्म व्यर्थ हो जाएंगे, संसार में पुरुषार्थ करने का भी कोई महत्त्व नहीं रह जाएगा।

31. जीव को अपने कर्मों के सिवाय अन्य कोई भी फल नहीं देता है; इसलिए कोई दूसरा मुझे कुछ दे सकता है – यह विचार छोड़कर, प्रमादी बुद्धि नष्टकर, आत्मकल्याणकारी कार्यों में जागृत रहते हुए आत्मा में स्थिर हो जाओ।

32. अमितगति आचार्य कहते हैं कि आश्चर्यकारी अनन्त वैभव सम्पन्न वह महान देव निर्मल, सत्य/वास्तविक, शिव/कल्याणमय, सुन्दर/मनोहारी शाश्वत है। जो इसका सदैव अपने में ही अनुभव करते हैं, वे पवित्रतम पद निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

आत्म भावना

(चाल - मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ।)

नित मंगलमय चिद्धारा हूँ ! निःज्ञान की केवल धारा हूँ !!
नित दर्श-ज्ञान उजियारा हूँ ! मैं ज्ञान की अविरल धारा हूँ !!

मैं ज्ञानमात्र उपयोगमयी, मति श्रुत अवधि का घाट नहीं।
कर्मों से नित निरपेक्षमयी, मनपर्यय केवलज्ञान नहीं॥

पाँचों ज्ञानों के घाटों पर, निज से नित बहने वाला हूँ।
हूँ सदा पारिणामिक स्वभाव, धारा सम बहने वाला हूँ॥

औदयिक मिश्र उपशम क्षायिक, ये मेरे नित्य स्वभाव नहीं।
ये घाट, ज्ञानमय धारा मैं, घाटों बिन दिखता कभी नहीं॥

घाटों के कारण मम धारा, घटती-बढ़ती भी कभी नहीं।
मैं गुण अनन्त से सदा पूर्ण, परमय भी होता कभी नहीं॥

मैं सहज शुद्ध ध्रुव एक सुखद, नित प्रभु स्वयंभू धारा हूँ।
शम-दम से होता सहज लब्ध, नित मंगलमय चिद्धारा हूँ॥

नित मंगलमय चिद्धारा हूँ। निःकेवल ज्ञान की धारा हूँ!!!

॥ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥

जैनम् जयतु शासनम्